[1990] 2 उम० नि० प० 884

भारत संघ और एक अन्य

बनाम

रघुबीर सिंह (मृत) विधिक प्रतिधियों की मार्फत

16 मई, 1989

मुख्य न्यायमूर्ति आर० एस० पाठक और न्या० ई० एस० वेंकटरामय्या, सव्यसाची मुखर्जी, रंगनाथ मिश्र तथा एस० नटराजन

संविधान, 1950—अनुच्छेद 32, 226, 136 और 141—न्यायिक प्रणाली—इंग्लैंड और अमरीका में न्यायिक प्रणाली की स्थिति की तुलना—इस बारे में कोई संदेह नहीं है कि न्यायाधीश कानून बनाते हैं और उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर सभी न्यायालयों पर आबद्धकर हैं।

संविधान, 1950—अनुच्छेद 32, 226, 136, 13 और 368—न्यायिक पुनर्विलोकन—भारतीय संविधान में विधानमंडल के अधिनियमों के पुनर्विलोकन की शक्ति की सीमा का स्रोत उसमें व्यादिष्ट शक्तियों का पृथक्करण है—इंग्लैंड में यह स्थिति भिन्न है—भारत में शक्तियों का पृथक्करण होने के कारण न्यायपालिका को सांविधानिक संशोधनों के पुनर्विलोकन की शक्ति प्राप्त है।

संविधान, 1950—अनुच्छेद 32, 136, 226, 141, 227 और 145—नजीर का सिद्धांत—निश्चित और संगत विधि के लिए नजीर के सिद्धांत की आवश्यकता, उसका उद्देश्य और न्यायौचित्य विधिसमाज की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप भी होनी चाहिए—न्यायालयों को विकासशील समाज में परिवर्तन के वांछनीय विस्तार और विधि के बीच संतुलन बनाना चाहिए—उच्चतम न्यायालय को अपने स्वयं के विनिश्चयों को किन परिस्थितियों और किस सीमा तक तथा किस रीति में उलटना चाहिए, इस प्रश्न को भविष्य में अंतिम रूप से विनिश्चित करने के लिए छोड़ा गया और इस बारे में व्यापक मार्गदर्शक सिद्धांत विद्यमान विधि से निकाले जा सकते हैं।

सुप्रीम कोर्ट रूल्स, 1966—आदेश VII, नियम (1 और 2) (सहपठित संविधान के अनुच्छेद 145, 137 और 141)—पद्धति और प्रक्रिया—कोई खंड न्यायपीठ समान या उससे अधिक न्यायाधीशों वाली अन्य खंड न्यायपीठ के पूर्ववर्ती विनिश्चय से आबद्ध होती है—असहमति या संदेह होने पर पूर्ववर्ती खंड न्यायपीठ के ऐसे पूर्ववर्ती आबद्धकर विनिश्चय का आशयित अनुसरण न करने की स्थिति में मामला बृहत्तर न्यायपीठ को निर्दिष्ट किया जा सकता है।

भूमि अर्जन (संशोधन) अधिनियम, 1984—धारा 30 (2) और 15—तोषण में की गई वृद्धि का फायदा—भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 की धारा 23(2) के अधीन 30% तोषण में की गई वृद्धि कलक्टर या न्यायालय द्वारा 30-4-82 और 24-9-84 के

मध्य किए गए अधिनिर्णयों को ही लागू होती है—इसका फायदा केवल ऐसे अधिनिर्णयों की बाबत उनके द्वारा 30-4-82 के पश्चात् किसी समय विनिश्चित अपीलों को विस्तारित होगा—इसलिए संशोधित उपबंध का फायदा, कलक्टर या न्यायालय द्वारा 30-4-82 से पूर्व किए गए विनिश्चयों की बाबत, उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय द्वारा नहीं दिया जा सकता है।

प्रत्यर्थियों की भूमि तारीख 13 नवम्बर, 1959 को भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 की धारा 4 के अधीन जारी की गई एक अधिसूचना द्वारा किए गए अनिवार्य अर्जन द्वारा ले ली गई। प्रतिकर की बाबत अधिनिर्णय कलक्टर द्वारा तारीख 30 मार्च, 1963 को किया गया था। अधिनियम की धारा 18 के अधीन निर्देश का निपटारा अपर जिला न्यायाधीश द्वारा तारीख 10 जून, 1968 को किया गया था। उसने प्रतिकर बढ़ा दिया। प्रत्यर्थियों ने आगे और प्रतिकर का दावा करते हुए उच्च न्यायालय में अपील की। अपील लंबित रहने के दौरान संसद् में 30 अप्रैल, 1982 को भूमि अर्जन (संशोधन) विधेयक, 1982 पेश किया गया जो 24 सितंबर, 1984 को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त होने पर भूमि अर्जन (संशोधन) अधिनियम, 1984 के रूप में विधि बन गया। उच्च न्यायालय ने तारीख 6 दिसंबर, 1984 के अपने निर्णय और आदेश द्वारा अपील का निपटारा कर दिया। जब उसने प्रतिकर की दर में वृद्धि की, तो उसने प्रतिकर पर संदेय ब्याज की दर में भी वृद्धि कर दी और भूमि अर्जन (संशोधन) अधिनियम, 1984 द्वारा विधि में किए गए परिवर्तन को देखते हुए बाजार मूल्य का 30 प्रतिशत तोषण (मुआवजा) अधिनिर्णीत किया। इन अपीलों में उच्च न्यायालय के निर्णय और आदेश को चुनौती दी गई है। जब ये मामले तारीख 23 सितम्बर, 1985 को दो विद्वान् न्यायाधीशों की न्यायपीठ के समक्ष आए, तो उन्होंने इस न्यायालय के दो पूर्ववर्ती विनिश्चयों के प्रति निर्देश किया और यह मताभिव्यक्ति की कि उपयुक्त प्रश्न के लिए पांच न्यायधीशों वाले बृहतर न्यायपीठ द्वारा पुनः परीक्षा की जानी अपेक्षित थी। आगे यह भी निद्रेश दिया गया कि इन याचिकाओं में अंतर्वलित अन्य प्रश्नों पर पूर्वोक्त प्रश्न के बृहत्तर न्यायपीठ द्वारा तय किए जाने के पश्चात् विचार किया जाएगा। विद्वान् न्यायाधीशों के आदेश में निर्देशित दो विनिश्चय, के० कमलतम्मन्नि आवरू (मृत) अपने विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत **बनाम** विशेष भूमि अर्जन अधिकारी वाला मामला जिसका विनिश्चय न्यायमूर्ति ओ० चिन्नप्पा रेड्डी और सब्यसाची मुखर्जी द्वारा तारीख 14 फरवरी, 1985 को किया गया और भाग सिंह और अन्य **बनाम** संघ राज्यक्षेत्र, चंडीगढ़ वाला मामला जिसका विनिश्चय मुख्य न्यायमूर्ति पी० एन० भगवती और न्यायमूर्ति ए० एन० सेन और डी० पी० मदान द्वारा तारीख 14 अगस्त, 1985 को किया गया था, भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 23 की उपधारा (2) के अधीन तोषण (मुआवजा) अधिनिर्णीत किया जाता है। संशोधन अधिनियम अधिनियमित किए जाने से पूर्व इस उपधारा में बाजार मूल्य के 15 प्रतिशत तोषण (मुआवजा) के लिए उपबंध था। संशोधन अधिनियम द्वारा पुनःस्थापित परिवर्तन द्वारा इस रकम को बढ़ाकर बाजार मूल्य का 30 प्रतिशत कर दिया गया है। संशोधन अधिनियम की धारा 30 की उपधारा (2) में ऐसे मामलों के प्रवर्ग विनिर्दिष्ट हैं जिनको तोषण (मुआवजे) की संशोधित दर लागू होती है। उपर्युक्त के० कमलतम्मन्नि आवरू वाले मामले में, दोनों विद्वान् न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया कि धारा 30 की उपधारा (2) में तारीख 30 अप्रैल, 1982 और 22 सितंबर, 1984 के मध्य किए गए अधिनिर्णय

के विरुद्ध की गई अपीलों में उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय द्वारा किए गए आदेशों के प्रति निर्देश है, और यह कि, इसलिए, धारा 30 उपधारा (2) के अनुसार 30 प्रतिशत तोषण (मुआवजा) केवल ऐसे ही मामलों में अधिनिर्णीत किया जाना चाहिए था। तथापि, उपर्युक्त भाग सिंह वाले मामले में तीनों विद्वान न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया कि धारा 30 की उपधारा (2) में तारीख 30 अप्रैल, 1982 को लंबित अथवा इस तारीख के पश्चात् फाइल की गई प्रतिकर से संबंधित कार्यवाहियों के प्रति निर्देश है, चाहे वे कलक्टर अथवा न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के समक्ष फाइल की गई भले ही उन्हें संशोधन अधिनियम की अधिनियमिति से पूर्व अंतिम रूप से समाप्त कर दिया गया था। इस मत को अपनाते हुए उन्होंने उपर्युक्त कमलतम्मन्नि आवरू वाला मामला उलट दिया और पंजाब राज्य **बनाम** मोहिन्दर सिंह और एक अन्य वाले मामले में व्यक्त किए गए मत का अनुमोदन किया जिसका विनिश्चय न्यायमूर्ति एस० मुर्तजा फजल अली, ए० वरदराजन और रंगनाथ मिश्र ने तारीख 1 मई, 1985 को किया था। आरंभ में ही, श्री बी० आर० एल० अयंगर द्वारा इन मामलों को बृहत्तर न्यायपीठ को निर्दिष्ट किए जाने की विधिमान्यता की बाबत प्रारंभिक आक्षेप किया गया है। उसने यह दलील दी कि मात्र ये परिस्थिति कि दो विद्वान न्यायाधीशों के न्यायपीठ ने तीन विद्वान न्यायाधीशों के न्यायपीठ द्वारा अपनाए गए मत की शुद्धता के बारे में स्वयं संदेह किया बृहत्तर न्यायपीठ को मामला निर्दिष्ट करने का कारण नहीं हो सकती है। इन मामलों में विचारार्थ मुख्य प्रश्न यह है कि उच्चतम न्यायालय अपने स्वयं के निर्णयों को किन परिस्थितियों के अंतर्गत और किन परिसीमाओं और किस रीति में उलट सकता है? उच्चतम न्यायालय द्वारा मामलों का निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित—भारत न्यायालयों के अधिक्रम द्वारा अभिज्ञात ऐसी न्यायिक प्रणाली द्वारा शासित होता है जहां आबद्धकर पूर्व निर्णय का सिद्धांत इसके विधिशास्त्र की मुख्य विशिष्टता है। इस बाबत विवाद रहा है कि न्यायाधीश विधि बनाते हैं। आज, इस बाबत संदेह नहीं किया जा सकता है कि नागरिकों के जीवन को शासित करने और राज्य के कृत्यों को विनियमित करने वाली विधि का काफी भाग वरिष्ठ न्यायालयों के विनिश्चयों से उद्भूत होता है। लार्ड रीड के मतानुसार, "ऐसा भी समय था जब प्रायः यह अच्छा नहीं समझा जाता था कि न्यायाधीश विधि बनाते हैं—वे तो मात्र इसे घोषित करते हैं...... परंतु आज इन काल्पनिक बातों में कोई विश्वास नहीं है।" युनाइटेड किंगडम सरीखे देशों में जहां संसद् विधायी अंग के रूप में सर्वोच्च है और राज्य की सांविधानिक संरचना के शिखर पर स्थित है, न्यायिक विधि निर्माण द्वारा अदा की जाने वाली भूमिका परिसीमित है। प्रथमतः, न्यायालयों का काम संसद् द्वारा बनाई गई विधि के निर्वचन तक ही निर्बंधित है, और न्यायालयों को संसदीय कानूनों की विधिमान्यता की बाबत प्रश्नचिन्ह लगाने की कोई शक्ति नहीं है, डायसी का यह कथन सत्य है कि ब्रिटिश संसद् सर्वोपरि और सर्वशक्तिमान है। द्वितीयतः, इंग्लैंड में न्यायालयों के प्रत्येक विनिश्चय में प्रतिपादित विधि का संसद् के किसी भी अधिनियम द्वारा अधिक्रमण किया जा सकता है। किंतु भारत जैसे लिखित संविधान में स्थिति काफी भिन्न है। भारत का संविधान में, जो देश की सर्वोच्च विधि का द्योतक है, राज्य के तीन भिन्न अंगों की परिकल्पना की गई है, जिसमें प्रत्येक का अपना कार्य है और जिनमें से प्रत्येक राज्य का आधार स्तंभ है। सामान्यतः भारत में संसद् और राज्य विधान-

मंडल विधि अधिनियमित करते हैं और कार्यपालक सरकार उन्हें लागू करती है तथा न्यायपालिका न केवल कार्यपालिका द्वारा विधि लागू किए जाने की बाबत अपना निर्णय सुनाती है अपितु लागू किए जाने के लिए ईप्सित विधान की विधिमान्यता के संबंध में भी विनिश्चय करती है। भारत में वरिष्ठ न्यायपालिका के कृत्यों में से एक कृत्य विधायी सक्षमता और मूल अधिकारों के साथ इसकी संगति दोनों की दृष्टि से विधान की सक्षमता और विधिमान्यता की परीक्षा करना है। इस संबंध में, भारतीय न्यायालयों को वह शक्ति प्राप्त है जो अंग्रेजी न्यायालयों (इंगलिश कोर्ट्स) को प्राप्त नहीं है। जब किसी कानून को भारत में अविधिमान्य घोषित कर दिया जाता है तो इसका उस समय तक यथापूर्वकरण नहीं किया जा सकता है जब तक कि किसी सांविधानिक संशोधन द्वारा इसके लिए सांविधानिक मंजूरी प्राप्त नहीं कर ली जाती है अथवा उस कानून का ऐसा समुचित रूप में उपांतरित रूपांतर अधिनियमित नहीं किया जाता है जो सांविधानिक आदेश प्रदान करता है। न्यायिक पुनर्विलोकन की पद्धति को भारत की वरिष्ठ न्यायपालिका में इतने अधिक विस्तृत और व्यापक रूप में मान्यता प्राप्त है जो विधि के क्षेत्र में संभवतया ही नहीं है। इस शक्ति में संविधान के संशोधन तक की विधिमान्यता की परीक्षा करना सम्मिलित है, क्योंकि अब यह बार-बार अभिनिर्धारित किया जा चुका है कि ऐसे किसी भी सांविधानिक संशोधन को बनाए नहीं रखा जा सकता जो संविधान की आधारभूत संरचना का अतिक्रमण करता है। यह ठीक ही है कि भारत के वरिष्ठ न्यायालयों को उस भारी उत्तरदायित्व के प्रति सचेत रहना चाहिए जो उन पर डाला गया है। यह विशेष रूप में उच्चतम न्यायालय के बारे में सत्य है, क्योंकि समस्त न्याय प्रणाली में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित विधि, संविधान के अनुच्छेद 141 द्वारा, भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर सभी न्यायालयों पर आबद्धकर है। (पैरा 7)

भारत की न्याय प्रणाली के सोपानतंत्रीय स्वरूप को ध्यान में रखते हुए, यह सबसे महत्वपूर्ण है कि उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि निश्चित, स्पष्ट और संगत होनी चाहिए। यह सामान्यतः विदित है कि न्यायालयों के अधिकांश विनिश्चय मात्र इस कारण महत्वपूर्ण नहीं है कि वे पक्षकारों के अधिकारों की बाबत न्यायनिर्णयन करते हैं और उनके मध्य विवाद तय करते हैं, अपितु इस कारण भी महत्वपूर्ण है कि ऐसा करके वे विधि की ऐसी घोषणा करते हैं जो भावी मामलों में आबद्धकर सिद्धांत के रूप में लागू होती है। इस पश्चात्वर्ती पहलू में उनके द्वारा विधिशास्त्र का विकास करने का विशिष्ट मूल्य निहित है। आबद्धकर पूर्वनिर्णय के सिद्धांत की विशिष्टता न्यायिक विनिश्चयों में सुनिश्चितता और संगति को बढ़ावा देना तो है ही साथ ही यह व्यक्ति के उन संव्यवहारों के परिणामस्वरूप जो उसके दैनिक कामकाज का भाग होते हैं उसे विश्वास प्रदान करने के अलावा, विधि का सुव्यवस्थित विकास संभव बनाता है। और, इसलिए, न्यायालय के विनिश्चयों में विधिक सिद्धांत के स्पष्ट और संगत प्रतिपादना की आवश्यकता होती है। (पैरा 8 और 9)

विधि की बाध्यताएं विद्यमान विधिक प्रतिपादनाओं द्वारा परिसीमित नहीं की जा सकती हैं क्योंकि सदैव विद्यमान विधि की सीमाओं से परे ऐसे क्षेत्र होते हैं जिनके लिए न्यायिक संवीक्षा और न्यायिक रुचि तैयार करने की आवश्यकता है क्योंकि इनसे विद्यमान न्यायिक मताग्रह की विधिमान्यता प्रभावित हो सकती है। परिवर्तित सामाजिक युग के अनुकूल समाधानों की खोज में

1989(5) eILR(PAT) SC 23

न केवल 'ऋजुता' अथवा 'युक्तियुक्तता' सरीखी विधि की प्रतियोगी प्रतिपादनाओं, या विधिक प्रतिपादना के प्रतियोगी रूपान्तर, या अनिवार्यता की रूपात्मकता के मध्य खोज करनी पड़ेगी, अपितु अनुभवजन्य ज्ञान अथवा वर्तमान समय और स्थान के स्वीकृत मूल्यों के समनुषंग, और नवीन प्राचलों के अंतर्गत न्याय प्रदान करने के सुसंगत प्रभावी विधि से बाहर प्रतिपादनाओं के मध्य भी करनी पड़ेगी। विधि के विकसित विषयों से संबंधित न्यायिक रुचि बनाने के लिए प्रस्तुत समस्याओं का ब्रह्माण्ड विस्तारित ब्रह्माण्ड है। विगत न्यायिक चयन के संचयन द्वारा नियंत्रण में लाए क्षेत्र व्यापक हो सकते हैं। फिर भी परिवर्तनशील सामाजिक, आर्थिक और प्रौद्योगिक परिस्थितियों के कारण और आगे चयन के लिए नए रूप में प्रस्तुत किए गए क्षेत्र विचार किए जाने के लिए पर्याप्त नहीं है। यह भी ध्यान रखने की बात है कि नए विकल्प के बहुत से अवसर मात्र इस तथ्य से उद्भूत होते हैं कि कोई भी संतति विश्व को उसी अनुकूल परिस्थिति से नहीं देखती है जिससे उसके पूर्वज देखते थे, और न ही उसी बोध से। भिन्न अनुकूल परिस्थिति अथवा बोध की भिन्न गुणवत्ता के कारण प्रायः ऐसी रुचि तैयार करने की आवश्यकता पड़ती है जहां पहले किसी प्रकार के अनुकल्पों, अथवा समस्याओं को बिल्कुल भी नहीं समझा गया था। किसी विशिष्ट समय न्यायिक रुचि के क्षेत्रों का विस्तार न केवल विगत विनिश्चयों के संचयन का कार्य है, और न ही परिवेश में परिवर्तनों का, अपितु सांस्कृतिक और सामाजिक परंपरा में होने वाले परिवर्तनों द्वारा उद्भूत पुरातन और नवीन दोनों प्रकार की समस्याओं की नवीन अंतर्दृष्टि और परिप्रेक्ष्यों का भी। न्यायालय यह सुनिश्चित करने का समुचित प्रयास करेगा कि भले ही परिवर्तित सामाजिक परिवेश के अनुरूप चयन किए गए नवीन विधिक प्रतिमान से पूर्व प्रभावी प्रतिमान का परित्याग दर्शित होता है, तथापि इसमें सुनिश्चितता, स्पष्टता और स्थायित्व का ही सिद्धांत होना चाहिए। (पैरा 11, 12 और 13)

पूर्ववर्ती स्थापित मानकों और प्रतिमानों की नवीन संहिता बनाए जाने के मध्य चयन करते समय उच्चतम न्यायालय का भारी उत्तरदायित्व और भी उस अनुक्रिया के कारण गंभीर और महत्वपूर्ण बन जाता है जो शीघ्रता से परिवर्तित सामाजिक और आर्थिक समाज से संबंधित है। भारत सरीखे विकासशील समाज में विधि उस मार्ग का अनुसरण करके अपना वास्तविक कार्य नहीं करती जो पहले ही विदीर्ण हो चुका है। विधि के कुछ क्षेत्रों में ऐसे प्रतिमान पाए जा सकते हैं जिनका 40 वर्ष पहले गुजर चुके विश्व के अनुभव और मूल्यों से शिक्षित न्यायिक रुचि के आधार पर चयन किया गया। उन सामाजिक शक्तियों के लिए जिनकी ओर उस घटनाक्रम में ध्यान देने की आवश्यकता है जिससे नवीन समाज प्रकट हो रहा है नवीन विचारों और नवीन परिप्रेक्ष्यों की आवश्यकता है। यह मान्यता कि समय में परिवर्तन हो रहा है और यह कि नवीन विधिशास्त्र के उद्भव का यह अवसर है उच्चतम न्यायालय द्वारा बंगाल इम्यूनिटी कंपनी लिमिटेड **बनाम** बिहार राज्य और अन्य वाले मामले में की गई इस मताभिव्यक्ति से प्रकट है कि वह अपने पूर्व निर्णयों से आबद्ध नहीं है और अपने निर्णयों को उलटने के लिए स्वतंत्र था जब वह परिवर्तित समय की आवश्यकताओं के अनुसार चलने के लिए ऐसा करना उपयुक्त समझे। इस सिद्धांत की स्वीकृति आबद्धकर पूर्वनिर्णय के सिद्धांत को दिए गए परिरक्षण और विधिसम्मतता को सुनिश्चित करती है और, इसलिए समाज की परिवर्तित मांगों के अनुसार विधि की न्यायिक सर्जनात्मकता और अनुकूलता के

लिए आवश्यक गुंजाइश प्रदान करते हुए विधि को सुनिश्चित और अंतिम रूप प्रदान करती है। (पैरा•14)

यह दो प्राइवेट व्यक्तियों के परस्पर अधिकारों की घोषणा करने वाला साधारण निर्णय सुनाया जाना नहीं है। इसमें उपभोग करने वाले जन साधारण के मुकाबले में राज्यों की कराधायक शक्ति का न्यायनिर्णयन अंतर्वलित है। यदि विनिश्चय गलत है, जैसी कि वास्तव में न्यायालय कल्पना करते हैं, अवैध कर के उस भार से जनता की संरक्षा करने का न्यायालय का दायित्व बन जाता है जिन्हें अभी हाल में दिए गए इस गलत विनिश्चय के बल पर अधिरोपित करने की राज्य ईप्सा कर रहे हैं। "इस बाबत सचेत रहते हुए कि न्यायालय मात्र इस कारण मतभेद दर्शित नहीं करेंगे कि प्रतिकूल मत अधिमान योग्य प्रतीत होता था, विद्वान न्यायाधीश ने यह अभिपुष्टि की कि न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय के पूर्व निर्णय से सरलतापूर्वक विसम्मति प्रकट नहीं करेंगे।" किंतु यदि पूर्व विनिश्चय स्पष्टत: गलत है, तो उसके अनुसार, ऐसा करना और भूल को न करने देना न्यायालय का कर्तव्य है। निर्णीतानुसरण के सिद्धांत का निवेदन इस आधार पर नामंजूर कर दिया गया कि (क) उलटने के लिए आशयित विनिश्चय अभी हाल ही का विनिश्चय था और इसमें विभिन्न विनिश्चयों को उलटा जाना अंतर्वलित नहीं था, और (ख) निर्णीतानुसरण का सिद्धांत कठोर नियम नहीं था और इसे किसी भी स्थिति में मोड़ा जा सकता था जहां इसका अनुसरण किए जाने के परिणामस्वरूप जनता के या इसके काफी बड़े भाग के सामान्य कल्याण अहित में गलती की जाती रहेगी। (पैरा 21)

तब ऐसे किसी मामले के संबंध में, जिसमें बाद में कम संख्या वाले न्यायाधीशों के खंड न्यायपीठ के समक्ष उसी मुद्दे को उठाया गया है, खंड न्यायपीठ द्वारा सुनाए गए विधि के प्रभाव के संबंध में क्या स्थिति होनी चाहिए। इस बाबत किसी प्रकार का कोई सांविधानिक या कानूनी उपबंध नहीं है, और यह मुद्दा पूर्णत: भारत में न्यायालयों की उस प्रथा द्वारा शासित है जिसकी शताब्दियों से बार-बार अभिपुष्टि की गई है। इस बाबत कोई संदेह नहीं किया जा सकता है कि किसी वरिष्ठ न्यायालय द्वारा अधिकथित विधि में संगीत और सुनिश्चितता की अभिवृद्धि करने के लिए आदर्श संकल्पना यह होगी कि विधि के प्रश्नों का विनिश्चय करने के लिए संपूर्ण न्यायालय समस्त मामलों में सुनवाई करे, और इस कारण अमरीकी सुप्रीम कोर्ट ऐसा करता है। किंतु उस कार्य की मात्रा को देखते हुए जिसकी ओर न्यायालय को ध्यान देना पड़ता है, भारत में पद्धति और सुविधा के सामान्य नियम के रूप में यह आवश्यक हो गया है कि न्यायालय की खंडों में सुनवाई करनी चाहिए, और प्रत्येक खंड में न्यायाधीश हों जिनकी संख्या न्यायिक आवश्यकता की अत्यावश्यकताओं, इससे संबंधित किसी कानूनी आदेश को सम्मिलित करते हुए मामले की प्रकृति द्वारा, और ऐसी अन्य विचारणाओं द्वारा अवधारित हो जिन्हें मुख्य न्यायमूर्ति, जिसमें ऐसा प्राधिकार परिपाटी द्वारा न्यागत होता है, अति उपयुक्त पाएं। विभिन्न खंड न्यायपीठों द्वारा विधि के मुद्दों पर विसंगत विनिश्चयों की संभावनाओं के विरुद्ध रक्षा करने के लिए ही इस नियम का विकास किया गया है ताकि विधि और उसके समकालीन स्तर के विकास में संगति और सुनिश्चितता की अभिव्यक्ति हो सके, यह कि विधि का कथन खंड न्यायपीठ द्वारा उसी खंड न्यायपीठ का अथवा कम संख्या वाले न्यायाधीशों की न्यायपीठों पर आबद्धकर समझा जाए। उच्चतम न्यायालय के खंड न्यायपीठ द्वारा

घोषित विधि उसी खंड न्यायपीठ या कम संख्या वाले न्यायाधीशों के न्यायपीठ पर आबद्धकर है, और इसलिए कि ऐसा विनिश्चय आबद्धकर हो, यह आवश्यक नहीं है कि यह पूर्ण न्यायालय या न्यायालय के संविधान न्यायपीठ द्वारा दिया गया विनिश्चय हो। तथापि, सुनिश्चितता और सम्यक् प्राधिकार प्रदान करने के प्रयोजनार्थ भविष्य में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय उस समय तक कम से कम तीन न्यायाधीशों के खंड न्यायपीठों द्वारा किए जाएं जब तक कि, अकाट्य कारणों से, ऐसा करना सुविधाजनक रूप में संभव न हो। (पैरा 27 और 28)

न्यायालय ने निर्देश के गुणागुण पर विचार किया। यही निर्देश भूमि अर्जन (संशोधन) की अधिनियम, 1984 की धारा 30(2) के निर्वचन तक ही सीमित है। संशोधन अधिनियम अधिनियमिति से पूर्व भूमि अर्जन अधिनियम (जिसे संक्षेप में 'मूल अधिनियम' कहा गया है) की धारा 23(2) में उपबंधित तोषण अधिनियम की धारा 23(1) के अनुसार संगणित भूमि के बाजार मूल्य का 15% है, और यह तोषण अर्जन की अनिवार्य प्रकृति के प्रतिफल के रूप में उपबंधित है। भूमि अर्जन संशोधन विधेयक, 1982 लोक सभा में 30 अप्रैल, 1982 को पेश किया गया था और अधिनियमिति के पश्चात् भूमि अर्जन संशोधन अधिनियम, 1984 तारीख 24 सितंबर, 1984 से प्रवर्तन में आया। संशोधन अधिनियम की धारा 15 ने मूल अधिनियम की धारा 23(2) में संशोधन किया तथा '15 प्रतिशत' शब्दों के स्थान पर '30 प्रतिशत' शब्द प्रतिस्थापित किए। संसद् का आशय यह था कि वर्धित तोषण का फायदा, उस तारीख से पूर्व की गई अर्जन कार्यवाहियों की बाबत, यद्यपि सीमित मात्रा में प्राप्त होना चाहिए। धारा 30(2) का अर्थान्वयन करने पर, यह न्यायसंगत और स्पष्ट है कि यहां निर्दिष्ट मूल अधिनियम की धारा 11 के अधीन कलक्टर द्वारा किया गया अधिनिर्णय, और न्यायालय द्वारा किया गया अधिनिर्णय मूल अधिनियम की धारा 19 के अधीन न्यायालय के समक्ष कलक्टर द्वारा किए गए निर्देश पर मूल अधिनियम की धारा 23 के अधीन आरंभिक अधिकारिता वाले प्रधान सिविल न्यायालय द्वारा किया गया अधिनिर्णय है। इस बाबत कोई संदेह नहीं हो सकता है कि धारा 30(2) में 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य कलक्टर द्वारा किए गए अधिनिर्णय की बाबत बढ़े हुए तोषण का फायदा आशयित है। इसी प्रकार वर्धित तोषण का फायदा धारा 30(2) द्वारा 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य न्यायालय द्वारा किए गए अधिनिर्णय के मामले में भी विस्तारित की गई है, यद्यपि ऐसा 30 अप्रैल, 1982 से पूर्व किए गए अधिनिर्णय से किए गए निर्देश पर किया जाएगा। न्यायालय की यह राय है कि अपीलार्थियों द्वारा किए गए निर्वचन को प्रत्यर्थियों द्वारा सुझाए गए निर्वचन की अपेक्षा अधिमान दिया जाना चाहिए। संसद् ने उच्च न्यायालय के समक्ष अपील और उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील को 'किसी ऐसे अधिनिर्णय' के विरुद्ध अपील के रूप में वर्णित किया है। प्रत्यर्थियों की ओर से दलील यह है कि 'किसी ऐसे अधिनिर्णय' शब्दों से कलक्टर या न्यायालय द्वारा किया गया अधिनिर्णय अभिप्रेत है, और इसमें कोई बड़ा मर्यादित भाव नहीं है, और यह कि इस संदर्भ में, धारा 30(2) की भाषा के आधार पर, अपील में आदेश 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य किया गया अपीली आदेश है और ऐसी स्थिति में कलक्टर या न्यायालय का संबंधित आदेश 30 अप्रैल, 1982 से पूर्व किया जाना चाहिए था। 'कोई ऐसा अधिनिर्णय' शब्दों का प्रत्यर्थियों के विद्वान काउंसेल द्वारा सुझाया गया व्यापक अर्थ नहीं हो सकता है। उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के अपीली आदेश के रूप में वर्णन करने वाले ऐसे शब्द आवश्यक नहीं थे।

स्पष्टतः मूल अधिनियम में अनुध्यान विद्यमान पदानुक्रम संबंधी संरचना को देखते हुए ये अपीली आदेश कलक्टर या न्यायालय के अधिनिर्णय के विरुद्ध अपील में उद्भूत आदेश ही हो सकते थे। 'कोई ऐसा अधिनिर्णय' शब्दों का आशय काफी महत्वपूर्ण है, और उस संदर्भ में जिसमें ये शब्द धारा 30(2) में आए हैं, यह स्पष्ट है कि उनसे तारीख 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य कलक्टर या न्यायालय द्वारा किए गए अधिनिर्णयों के प्रति निर्देश आशयित है। दूसरे शब्दों में संशोधन अधिनियम की धारा 30(2) वर्धित तोषण के फायदे उन मामलों को भी विस्तारित करती है जहां कलक्टर या न्यायालय द्वारा अधिनिर्णय तारीख 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य किया गया या उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय द्वारा ऐसे अधिनिर्णयों के विरुद्ध विनिश्चित अपीलों को यदि उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय 24 सितंबर, 1984 से पूर्व या इस तारीख के पश्चात् दिए गए। जो बात तात्विक है वह यह है कि अधिनिर्णय कलक्टर या न्यायालय द्वारा 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य किया जाना चाहिए। इस शब्द को सम्यक् महत्व दिया जाना चाहिए और इससे अवश्यमेव ही यह आशयित है कि उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील, जिसमें वर्धित तोषण का फायदा दिया गया, 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य कलक्टर या न्यायालय द्वारा दिए गए अधिनिर्णय तक ही सीमित रहनी चाहिए। (पैरा 30 और 31)

महान्यायवादी की इस दलील में सार दिखाई देता है कि यदि संसद् का यह आशय था कि वर्धित तोषण का फायदा समस्त लंबित कार्यवाहियों को भी पहुंचे तो उसने ऐसा स्पष्ट भाषा में कहा होता। इसके विपरीत उसका यह कहना है कि उन शब्दों से, जिनमें धारा 30(2) दी गई है, फायदा सीमित रूप में उपलब्ध होना उपदर्शित होता है। संशोधन अधिनियम को किसी विशिष्ट तारीख से सामान्यतः भूतलक्षी नहीं बनाया गया है, और यह भूतलक्षिता जो प्रकट है मूल अधिनियम के अंतर्गत कतिपय क्षेत्रों तक ही निर्बंधित है और इसे संबंधित उपबंध के विनिर्दिष्ट निबंधनों से निकाला जा सकता है। चूंकि स्वयं सुसंगत उपबंध की भाषा से भूतलक्षिता की व्यापकता मालूम करने के लिए यह आवश्यक है कि वर्धित तोषण के मामले में संसद् द्वारा आशयित भूतलक्षी अनुतोष की व्याप्ति अवधारित करने के लिए धारा 30(2) के उपबंधों का सूक्ष्मता से अध्ययन करना चाहिए। विद्वान महान्यायवादी यह बात कहने में सही है कि संसद् का आशय कतिपय तारीख को अपील में किसी मामले के निपटारे के मात्र संयोग पर वर्धित तोषण की व्याप्ति परिभाषित करना कभी नहीं था। अब वरिष्ठ न्यायालयों में विलंब उन सीमाओं तक हो गया है जिनका पूर्वानुमान उस समय नहीं किया गया था जब अनुतोष के लिए उनके समक्ष पहुंच करने का अधिकार कानून द्वारा मंजूर किया गया था। यदि उसका यह आशय था कि धारा 30(2) में तारीख 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के समक्ष लंबित अपीलों के प्रति निर्देश होना चाहिए, तो वे उन कार्यवाहियों के प्रति निर्देश कर सकते थे जिनमें अधिनिर्णय कलक्टर द्वारा 10 से 20 वर्ष पहले किसी समय किया गया था। उसका आशय यह कभी नहीं हो सकता था कि बहुत पहले प्रारंभ की गई अर्जन कार्यवाहियों को लागू होने वाले प्रतिकर और तोषण की दरों को भी अब कानूनी वर्धन की प्रसुविधा प्राप्त हो। यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि भूमि का मूल्य धारा 11(1) और धारा 23(1) के अधीन धारा 4(1) के अधीन अधिसूचना के प्रकाशन की तारीख के संदर्भ में लिया गया है, और

यही तारीख प्रतिकर और तोषण की मात्रा का अवधारण करने के प्रयोजनार्थ प्राय: तात्विक है। धारा 11(1) और 23(1) दोनों में ही, अन्य बातों के साथ-साथ, उस तारीख को भूमि के बाजार मूल्य के आधार पर प्रतिकर अवधारित किए जाने तथा धारा 23(2) द्वारा तोषण ऐसे बाजार मूल्य के प्रतिशत पर गणना किए जाने के बारे में कहा गया है। प्रत्यर्थियों के विद्वान काउंसेल ने यह बताया कि 'या' शब्द धारा 30(2) में कलक्टर या न्यायालय द्वारा किए गए अधिनिर्णय और अपील में उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय द्वारा पारित आदेश के प्रति निर्देश के मध्य वियोजक के रूप में प्रयुक्त किया गया है और उसके अनुसार उचित रूप में इसे समझने पर इससे यह अभिप्रेत है कि 30 अप्रैल, 1982 से 24 सितंबर, 1984 के मध्य की कालावधि उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के अपीली आदेश को उसी प्रकार लागू होती है जिस प्रकार यह कलक्टर या न्यायालय द्वारा किए गए अधिनिर्णय को लागू होती है। संसद् का आशय यह कहना है कि धारा 30(2) का फायदा पूर्वोक्त दो तारीखों के मध्य किए गए कलक्टर या न्यायालय के अधिनिर्णय अथवा उच्च न्यायालय अथवा उच्चतम न्यायालय के उस अपीली आदेश को भी उपलब्ध होगा जो उक्त दो तारीखों के मध्य कलक्टर या न्यायालय के अधिनिर्णय से उद्भूत होगा। "या" शब्द उस प्रक्रम के प्रति निर्देश में प्रयुक्त हुआ है जब कार्यवाही उस समय की गई जब धारा 30(2) के फायदे को विस्तारित करने की ईप्सा की गई। यदि कार्यवाही का पूर्वोक्त दो तारीखों के मध्य कलक्टर या न्यायालय द्वारा किए गए अधिनिर्णय के साथ ही पर्यवसान हो गया है, तो धारा 30(2) की प्रसुविधा पूर्वोक्त दो तारीखों के मध्य किए गए ऐसे अधिनिर्णय को भी प्राप्त होगी। यदि कार्यवाही उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील के प्रक्रम तक पहुंच गई है, तो उस प्रक्रम पर भी धारा 30(2) की प्रसुविधा प्राप्त होगी। तथापि, प्रत्येक स्थिति में, कलक्टर या न्यायालय का अधिनिर्णय 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य किया जाना चाहिए। (पैरा 32 और 33)

उलटे गए निर्णय

पैरा

[1986] [1986] 1 उम० नि० प० 361=(1985) 3 एस० सी० सी० 737 :

भाग सिंह और अन्य बनाम **संघ राज्यक्षेत्र, चण्डीगढ़**; 4

[1985] [1985] 2 उम० नि० प० 458=(1985) 1 एस० सी० सी० 582 :

के० कमलतम्मन्नि आवरू (मृत) अपने विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत बनाम **विशेष भूमि अर्जन अधिकारी.** 4

अवलंबित निर्णय

[1987] [1987] 1 एस० सी० आर० 435 :

एस० पी० संपत कुमार और अन्य बनाम **भारत संघ और अन्य**; 7

[1985] [1985] 4 उम० नि० प० 1482=ए० आई० आर० 1985 एस० सी० 231 :

जावेद अहमद अब्दुल हमीद पावला बनाम महाराष्ट्र राज्य; 26

[1983] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 361 :

टी० वी० वथीस्वर्ण बनाम तमिलनाडु राज्य; 26

[1983] [1983] 3 उम० नि० प० 211=ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 465 :

शेर सिंह और अन्य बनाम पंजाब राज्य; 26

[1981] [1981] 3 उम० नि० प० 146=(1980) 2 एस० सी० सी० 591 :

मिनर्वा मिल्स लिमिटेड और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य; 7

[1980] [1980] 3 उम० नि० प० 987=[1980] 1 एस० सी० आर० 769, 782 :

गंगा शुगर कंपनी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य; 24

[1976] [1976] 1 उम० नि० प० 1=[1976] 2 एस० सी० आर० 347 :

श्रीमती इंदिरा नेहरू गांधी बनाम राजनारायण; 7

[1974] [1974] 2 उम० नि० प० 952=[1975] 1 एस० सी० आर० 1 :

मगनलाल छगनलाल (प्रा०) लिमिटेड बनाम बृहत्तर मुंबई नगर निगम और अन्य; 22

[1973] [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्ली० एस० सी० आर० 1 :

केशवानंद भारती, श्रीपदगालवरू पूज्य जी और कुछ अन्य बनाम केरल राज्य; 7, 27

[1972] [1972] 2 उम० नि० प० 1=[1972] 2 एस० सी० आर० 502 :

पिलानी इनवेस्टमेंट कारपोरेशन लिमिटेड बनाम आय-कर अधिकारी 'ए' वार्ड, कलकत्ता और एक अन्य; 23

1989(5) eILR(PAT) SC 23

[1971] [1971] 2 उम० नि० प० 308=[1971] 3 एस० सी० आर० 748 :

गिरधारी लाल गुप्ता बनाम डी० एच० मेहता; 23

[1965] [1965] 2 एस० सी० आर० 908, 921 :

केशव मिल्स कंपनी बनाम आय-कर आयुक्त; 23

[1965] [1965] 1 एस० सी० आर० 933, 947-948 :

सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य; 23

[1961] [1961] 2 एस० सी० आर० 828 :

लेफ्टिनेंट कर्नल खजूर सिंह बनाम भारत संघ और एक अन्य. 23

निर्दिष्ट निर्णय

[1989] [1989] 4 उम० नि० प० 715=ए० आई० आर० 1989 एस० सी० 142 :

त्रिवेनीबेन बनाम गुजरात राज्य; 26

[1986] [1986] 3 उम० नि० प० 813=(1985) 4 एस० सी० सी० 369 :

भारत संघ और अन्य बनाम ग्रोडफ्रे फिलिप्स इंडिया लिमिटेड; 27

[1981] (1981) 4 एस० सी० सी० 143 :

गणपति सीताराम बालवलकर और एक अन्य बनाम वामन श्रीपदमागे (मृत) विधिक प्रतिनिधियों के माध्यम से; 27

[1981] [1981] 2 उम० नि० प० 240=[1980] 3 एल० सी० आर० 689 :

जीत राम बनाम हरियाणा राज्य; 27

[1979] [1979] 4 उम० नि० प० 1340=[1979] 2 एस० सी० आर० 641 :

मोती लाल पदमपत शुगर मिल्स बनाम उत्तर प्रदेश राज्य; 27

[1976] [1976] अपील केसेज 536, 542 :

स्टीडमेन बनाम स्टीडमेन; 15

[1976] [1976] 1 उम० नि० प० 1=[1976] 2 एस० सी० आर० 347 :

इंदिरा नेहरू गांधी बनाम राजनारायण; 27

[1975] [1975] अपील केसेज 476, 500 :

हाउटन बनाम स्मिथ; 17

[1974] [1974] 1 उम० नि० प० 2001 :

भूतनाथ माटे बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य; 27

[1975] [1975] 1 उम० नि० प० 306=[1975] 1 एस० सी० आर० 778 :

हरधन साहा बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य; 27

[1975] [1975] 1 उम० नि० प० 1071=[1975] 2 एस० सी० आर० 317 :

आचार्य महाराज श्री नरेन्द्र प्रसाद जी आनन्द प्रसाद जी महाराज और अन्य बनाम गुजरात राज्य और अन्य; 27

[1974] [1974] 479, 533, 535 :

आल्डेनडोर्फ एंड कंपनी बनाम ट्रेडेक्स एक्सपोर्ट; 15

[1974] [1974] 2 उम० नि० प० 1247=[1975] 1 एस० सी० आर० 127 :

मट्टू लाल बनाम राधे लाल; 27

[1973] [1973] अपील केसेज 435, 455 :

खुल्लर बनाम डी० पी० पी०; 17

[1972] [1972] ए० सी० 1027, 1086 :

केसेल बनाम ब्रूम; 18

[1972] 1972 अपील केसेज 966 :

जोन्स बनाम सेक्रेटरी आफ स्टेट फार सोशल सर्विसेज; 17

[1969] [1969] 1 इंडियन अपील केसेज 33, 69 :

इंडिका बनाम इंडिका; 17

[1968] (1968) 1 आल इंग्लैंड रिपोर्ट 779 :

चेने बनाम कान; 7

[1968] (1968) अपील केसेज 910, 938 :

कानवे बनाम रिम्मर; 15

[1965] (1965) ए० सी० 1001, 1022 :

डी० पी० पी० बनाम मेयर्स; 17

[1963] [1963] अपील केसेज 280, 330 :

रास स्मिथ बनाम रास स्मिथ; 17

[1955] [1955] 2 एस० सी० आर० 603 :

बंगाल इम्मयूनिटी कंपनी लिमिटेड बनाम बिहार राज्य और अन्य; 14

[1955] [1955] 2 एस० सी० आर० 603 :

फणीन्द्र चन्द्र नियोगी बनाम दि किंग; 19

[1953] [1953] एस० सी० आर० 1069 :

स्टेट आफ बाम्बे बनाम युनाइटेड मोटर्स (इंडिया) लिमिटेड; 20

[1944] (1944) 2 आल इंग्लैंड रिपोर्ट 293 :

यंग बनाम ब्रिस्टल एरोप्लेन कं० लि०; 26

[1939] (1939) अपील केसेज 215, 245 :

रेडक्लिफ बनाम रिबल मोटर सर्विसेज लिमिटेड; 16

[1929] एल० आर० 1929 अपील केसेज 242=ए० आई० आर० 1929 प्रिवी कौंसिल 84, 87 :

कंपेन्सेशन टू सिविल सर्वेन्ट्स; 19

[1914] [1914] 18 सी० एल० आर० 54 :

ट्रायवेज वाला मामला; 17

[1898] (1898) अपील केसेज 305 :

स्ट्रीट ट्रामवेज बनाम लंदन काउन्टी कौंसिल; 16

[1872] (1872) 36 जे० पी० 54 :

एक्सपोर्ट कैनन सेल्विन वाला मामला; 7

264 यू० एस० 646, 68 एल० संस्करण 219 :

स्टेट आफ वाशिंग्टन बनाम डावसन एण्ड कंपनी; 18

285 यू० एस० 393, 76 एल० एडिशन 815 :

डेविड बरनेल बनाम कारोनाडे आयल एण्ड गैस कंपनी; 18

एल० आर० 76 ओ० ए० 10 :

अटर्नी जनरल आफ आनटारिओ बनाम कनाडा टेम्परेन्स फेडरेशन. 19

सिविल अपीली अधिकारिता : 1989 की सिविल अपील सं० 2839-40 [इसके साथ 1985 की सिविल अपील सं० 4404, 1985 की विशेष इजाज़त याचिका (सिविल) सं० 8643, 12487 तथा 8829 की भी सुनवाई की गई]

1968 के आर० एफ० ए० संख्या 113 और 114 में दिल्ली उच्च न्यायालय के तारीख 6 दिसंबर, 1984 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपीलें।

उपस्थित पक्षकारों की ओर से सर्वश्री के० पराशरन, टी० एस० कृष्ण मूर्ति अय्यर, बी० आर० एल० अयंगर, एम० एल० गुजराल, एफ० एस० नारीमन, ए० के० गांगुली, के० स्वामी, सी० वी० सुब्बाराव, आर० डी० अग्रवाल, पी० परमेश्वरन, ओ० पी० शर्मा, आर० सी० गबरेले, के० आर० गुप्ता, आर० के० शर्मा, के० एल० राठी, चंदूलाल वर्मा, सुभाष मित्तल, एस० बालकृष्णन, एन० बी० सिन्हा, के० के० गुप्ता, संजीव बी० सिन्हा, एम० एम० कश्यप, पी० सी० खंगड़, स्वराज कौशल, पंकज कालरा, एस० के० बग्गा, रवीन्द्र नारायण, सुमीत कचवाल, एस० सुकुमारन, के० आर० नागराज, एस० एस० जवाली, सुश्री लीरा गोस्वामी, सर्वश्री डी० के० दास, बी० पी० सिंह, रणजीत कुमार, संतोष हेगड़े, एम० एन० श्राफ, पी० एन० मिश्र, डी० सी० तनेजा, पी० के० जैना, ए० के० सांघी और एम० वीरप्पा

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायमूर्ति आर० एस० पाठक ने दिया।

मुख्य न्यायमूर्ति पाठक—इन मामलों में हमारे समक्ष विनिश्चयार्थ निर्देशित विधि का प्रश्न इस प्रकार है—

"क्या भूमि अर्जन (संशोधन) अधिनियम, 1984 द्वारा यथा संशोधित भूमि अर्जन अधिनियम, 1984 के अधीन दावेदार उन तारीखों को ध्यान में न रखते हुए जिन पर अर्जन कार्यवाहियां प्रारम्भ की गई थीं या उन तारीखों को जिन पर अधिनिर्णय पारित किया गया था बाजार मूल्य के 30 प्रतिशत तोषण (मुआवजे) के हकदार हैं ?"

2. इतना ही पर्याप्त होगा यदि हम भारत संघ और एक अन्य बनाम रघुवीर सिंह : 1985 की विशेष इजाज़त याचिका संख्या 8194-8195 से उद्भूत सिविल अपीलों के तथ्यों के प्रति संक्षेप में निर्देश करें।

3. प्रत्यर्थियों की ढाका गांव स्थित भूमि तारीख 13 नवम्बर, 1959 को भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 की धारा 4 के अधीन जारी की गई एक अधिसूचना द्वारा किए गए अनिवार्य अर्जन द्वारा ले ली गई। प्रतिकर की बाबत अधिनिर्णय कलक्टर द्वारा तारीख 30 मार्च, 1963 को किया गया था। अधिनियम की धारा 18 के अधीन निर्देश का निपटारा अपर जिला न्यायाधीश द्वारा तारीख 10 जून, 1968 को किया गया था। उसने प्रतिकर

बढ़ा दिया। प्रत्यर्थियों ने आगे और प्रतिकर का दावा करते हुए उच्च न्यायालय में अपील की। अपील लंबित रहने के दौरान संसद् में 30 अप्रैल, 1982 को भूमि अर्जन (संशोधन) विधेयक, 1982 पेश किया गया जो 24 सितम्बर, 1984 को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त होने पर भूमि अर्जन (संशोधन) अधिनियम, 1984 के रूप में विधि बन गया। उच्च न्यायालय ने तारीख 6 दिसम्बर, 1984 के अपने निर्णय और आदेश द्वारा अपील का निपटारा कर दिया। जब उसने प्रतिकर की दर में वृद्धि की, तो उसने प्रतिकर पर संदेय ब्याज की दर में भी वृद्धि कर दी और भूमि अर्जन (संशोधन) अधिनियम, 1984 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'संशोधन अधिनियम' कहा गया है) द्वारा विधि में किए गए परिवर्तन को देखते हुए बाजार मूल्य का 30 प्रतिशत तोषण (मुआवजा) अधिनिर्णीत किया। इन अपीलों में उच्च न्यायालय के निर्णय और आदेश को चुनौती दी गई है।

4. जब ये मामले तारीख 23 सितम्बर, 1985 को दो विद्वान न्यायाधीशों की न्यायपीठ (न्यायमूर्ति ई० एस० वेंकटरामय्या और आर० बी० मिश्र) के समक्ष आए, तो उन्होंने इस न्यायालय के दो पूर्ववर्ती विनिश्चयों के प्रति निर्देश किया और यह मताभिव्यक्ति की कि उपर्युक्त प्रश्न के लिए पांच न्यायाधीशों वाले बृहत्तर न्यायपीठ द्वारा पुनः परीक्षा की जानी अपेक्षित थी। आगे यह भी निदेश दिया गया कि इन याचिकाओं में अंतर्वलित अन्य प्रश्नों पर पूर्वोक्त प्रश्न के बृहत्तर न्यायपीठ द्वारा तय किए जाने के पश्चात् विचार किया जाएगा। विद्वान् न्यायाधीशों के आदेश में निर्देशित दो विनिश्चय, **के० कमलतम्मन्नि आवरू (मृत) अपने विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत** बनाम **विशेष भूमि अर्जन अधिकारी**[1] वाला मामला, जिसका विनिश्चय न्यायमूर्ति ओ० चिन्नप्पा रेड्डी और सव्यसाची मुखर्जी द्वारा तारीख 14 फरवरी, 1985 को किया गया और **भाग सिंह और अन्य** बनाम **संघ राज्यक्षेत्र, चंडीगढ़**[2] वाला मामला जिसका विनिश्चय मुख्य न्यायमूर्ति पी० एन० भगवती और न्यायमूर्ति ए० एन० सेन और डी० पी० मदान द्वारा तारीख 14 अगस्त, 1985 को किया गया था, हैं।

5. भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 23 की उपधारा (2) के अधीन तोषण (मुआवजा) अधिनिर्णीत किया जाता है। संशोधन अधिनियम अधिनियमित किए जाने से पूर्व इस उपधारा में बाजार मूल्य के 15 प्रतिशत तोषण (मुआवजा) के लिए उपबंध था। संशोधन अधिनियम द्वारा पुनःस्थापित परिवर्तन द्वारा इस रकम को बढ़ाकर बाजार मूल्य का 30 प्रतिशत कर दिया गया है। संशोधन अधिनियम की धारा 30 की उपधारा (2) में ऐसे मामलों के प्रवर्ग विनिर्दिष्ट हैं जिनको तोषण (मुआवजे) की संशोधित दर लागू होती है। उपर्युक्त **के० कमलतम्मन्निआवरू**[1] वाले मामले में, दोनों विद्वान् न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया कि धारा 30 की उपधारा (2) में तारीख 30 अप्रैल, 1982 और 22 सितम्बर, 1984 के मध्य किए गए अधिनिर्णय के विरुद्ध की गई अपीलों में उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय द्वारा किए गए आदेशों के प्रति निर्देश है, और यह कि, इसलिए, धारा 30 की उपधारा (2) के अनुसार 30 प्रतिशत तोषण (मुआवजा) केवल ऐसे ही मामलों में अधिनिर्णीत किया जाना चाहिए था। तथापि, उपर्युक्त **भागसिंह**[2] वाले उपरोक्त मामले में तीनों विद्वान् न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया कि धारा 30 की उपधारा (2) में

[1] [1985] 2 उम० नि० प० 458=(1985) 1 एस० सी० सी० 582.

[2] [1986] 1 उम० नि० प० 361=(1985) 3 एस० सी० सी० 737.

तारीख 30 अप्रैल, 1982 को लंबित अथवा इस तारीख के पश्चात् फाइल की गई प्रतिकर से संबंधित कार्यवाहियों के प्रतिनिर्देश है, चाहे वे कलक्टर अथवा न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के समक्ष फाइल की गईं भले ही उन्हें संशोधन अधिनियम की अधिनियमिति से पूर्व अंतिम रूप से समाप्त कर दिया गया था। इस मत को अपनाते हुए उन्होंने उपर्युक्त **कमलतम्मन्नि आवरू**[1] वाला मामला उलट दिया और **पंजाब राज्य** बनाम **मोहिन्दर सिंह और एक अन्य**[2] मामले में व्यक्त किए गए मत का अनुमोदन किया जिसका विनिश्चय न्यायमूर्ति एस० मुर्तजा फजल अली, ए० वरदराजन और रंगनाथ मिश्र ने तारीख 1 मई, 1985 को किया था।

6. आरम्भ में ही, श्री बी० आर० एल० अयंगर द्वारा इन मामलों को बृहत्तर न्यायपीठ को निर्दिष्ट किए जाने की विधिमान्यता की बाबत प्रारंभिक आक्षेप किया गया है। उसने यह दलील दी कि मात्र यह परिस्थिति कि दो विद्वान् न्यायाधीशों के न्यायपीठ ने तीन विद्वान न्यायाधीशों के न्यायपीठ द्वारा अपनाए गए मत की शुद्धता के बारे में स्वयं संदेह किया बृहत्तर न्यायपीठ को मामला निर्दिष्ट करने का कारण नहीं हो सकती है। श्री अयंगर द्वारा किए गए इस प्रारंभिक आक्षेप का अपीलार्थियों द्वारा दृढ़तापूर्वक प्रतिरोध किया गया है। उन दलीलों पर ध्यान देते हुए जो हमारे समक्ष दी गईं, हम इस मुद्दे पर विधि अधिकथित करना आवश्यक समझते हैं।

7. भारत न्यायालयों के अधिक्रम द्वारा अभिज्ञात ऐसी न्यायिक प्रणाली द्वारा शासित होता है जहां आबद्धकर पूर्वनिर्णय का सिद्धांत इसके विधिशास्त्र की मुख्य विशिष्टता है। इस बाबत विवाद रहा है कि न्यायाधीश विधि बनाते हैं। आज, इस बाबत संदेह नहीं किया जा सकता है कि नागरिकों के जीवन को शासित करने और राज्य के कृत्यों को विनियमित करने वाली विधि का काफी भाग वरिष्ठ न्यायालयों के विनिश्चयों से उद्भूत होता है। लार्ड रीड के मतानुसार, "ऐसा भी समय था जब प्राय: यह अच्छा नहीं समझा जाता था कि न्यायाधीश विधि बनाते हैं—वे तो मात्र इसे घोषित करते हैं ········ परंतु आज हमें इन काल्पनिक बातों में कोई विश्वास नहीं है।" यूनाइटेड किंगडम सरीखे देशों में जहां संसद् विधायी अंग के रूप में सर्वोच्च है और राज्य की सांविधानिक संरचना के शिखर पर स्थित है, न्यायिक विधि निर्माण द्वारा अदा की जानी वाली भूमिका परिसीमित है। प्रथमत: न्यायालयों का काम संसद् द्वारा बनाई गई विधि के निर्वचन तक ही निर्बंधित है, और न्यायालयों को संसदीय कानूनों की विधिमान्यता की बाबत प्रश्नचिन्ह लगाने की कोई शक्ति नहीं है, डायसी का यह कथन सत्य है कि ब्रिटिश संसद् सर्वोपरि और सर्वशक्तिमान है। द्वितीयत:, इंग्लैंड में न्यायालयों के प्रत्येक विनिश्चय में प्रतिपादित विधि का संसद के किसी भी अधिनियम द्वारा अधिक्रमण किया जा सकता है। जैसा कि **एक्सपार्ट कैनन सेल्विन**[3] वाले मामले में मुख्य न्यायमूर्ति काकबर्न ने यह मताभिव्यक्ति की कि—

"देश में ऐसा कोई न्यायिक निकाय नहीं है जिसके द्वारा संसद् के किसी

---

[1] (1985) 2 उम० नि० प० 458=(1985) 1 एस० सी० सी० 582.

[2] (1986) 1 एस० सी० सी० 365.

[3] (1872) 36 जे० पी० 54.

अधिनियम की विधिमान्यता को आक्षेपित किया जा सकता है। विधानमंडल का अधिनियम प्राधिकार में विधि के किसी भी न्यायालय से उच्चतर है।"

चेने बनाम **कान**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति अंगायड थामस ने संसदीय कानून को "विधि का सर्वोत्कृष्ट रूप" कहा "...... जो विधि के सभी अंग रूपों से ऊपर स्थित है।" किंतु हमारे जैसे लिखित संविधान में स्थिति काफी भिन्न है। भारत का संविधान, जो देश की सर्वोच्च विधि का द्योतक है, राज्य के तीन भिन्न अंगों की परिकल्पना की गई है, जिसमें प्रत्येक का अपना कार्य है और जिनमें से प्रत्येक राज्य का आधार स्तंभ है। सामान्यतः भारत में संसद् और राज्य विधानमंडल विधि अधिनियमित करते हैं और कार्यपालक सरकार उन्हें लागू करती है तथा न्यायपालिका न केवल कार्यपालिका द्वारा विधि लागू किए जाने की बाबत अपना निर्णय सुनाती है अपितु लागू किए जाने के लिए ईप्सित विधान की विधिमान्यता के संबंध में भी। भारत में वरिष्ठ न्यायपालिका के कृत्यों में से एक कृत्य विधायी सक्षमता और मूल अधिकारों के साथ इसकी संगति दोनों की दृष्टि से विधान की सक्षमता और विधिमान्यता की परीक्षा करना है। इस संबंध में, भारतीय न्यायालयों को वह शक्ति प्राप्त है जो अंग्रेजी न्यायालयों (इंगलिश कोर्टस) को प्राप्त नहीं है। जब किसी कानून को भारत में अविधिमान्य घोषित कर दिया जाता है तो इसका उस समय तक यथापूर्वकरण नहीं किया जा सकता है जब तक कि किसी सांविधानिक संशोधन द्वारा इसके लिए सांविधानिक मंजूरी प्राप्त नहीं कर ली जाती है अथवा उस कानून का ऐसा समुचित रूप में उपांतरित रूपांतर अधिनियमित नहीं किया जाता है जो सांविधानिक आदेश प्रदान करता है। न्यायिक पुनर्विलोकन की पद्धति को भारत की वरिष्ठ न्यायपालिका में इतने अधिक विस्तृत और व्यापक रूप में मान्यता प्राप्त है जो विधि के विश्व में संभवतया ही कहीं है। इस शक्ति में संविधान के संशोधन तक की विधिमान्यता की परीक्षा करना सम्मिलित है, क्योंकि अब यह बार-बार अभिनिर्धारित किया जा चुका है कि ऐसे किसी भी सांविधानिक संशोधन को बनाए नहीं रखा जा सकता जो संविधान की आधारभूत संरचना का अतिक्रमण करता है। (देखिए **केशवानंद भारती, श्री पदगालवरू पूज्य जी और कुछ अन्य** बनाम केरल राज्य,[2] **श्रीमती इंदिरा नेहरू गांधी** बनाम **श्री राज नारायण**,[3] **मिनर्वा मिल्स, लिमिटेड और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[4] और अभी हाल ही का **एस० पी० संपत कुमार और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[5] वाले मामले न्यायिक शक्ति के इस प्रभावोत्पादक विस्तार के कारण, यह ठीक ही है कि भारत के वरिष्ठ न्यायालयों को उस भारी उत्तरदायित्व के प्रति सचेत रहना चाहिए जो उन पर डाला गया है। यह विशेष रूप में उच्चतम न्यायालय के बारे में सत्य है, क्योंकि समस्त न्याय प्रणाली में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित विधि, संविधान के अनुच्छेद 141 द्वारा, भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर सभी न्यायालयों पर आबद्धकर है।

8. भारत की न्याय प्रणाली के सोपानतंत्रीय स्वरूप को ध्यान में रखते हुए, यह सबसे

---

1 (1968) 1 आल इंग्लैंड रिपोर्ट 779.

2 [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्ली० एस०सी० आर० 1.

3 [1976] 1 उम० नि० प० 1= [1976] 2 एस० सी० आर० 347.

4 [1981] 3 उम० नि० प० 146=(1980) 2 एस० सी० सी० 591.

5 [1987] 1 एस० सी० आर० 435.

महत्वपूर्ण है कि इस न्यायालय द्वारा घोषित विधि निश्चित, स्पष्ट और संगत होनी चाहिए। यह सामान्यत: विदित है कि न्यायालयों के अधिकांश विनिश्चय मात्र इस कारण महत्वपूर्ण नहीं हैं कि वे पक्षकारों के अधिकारों की बाबत न्यायनिर्णयन करते हैं और उनके मध्य विवाद तय करते हैं, अपितु इस कारण भी महत्वपूर्ण हैं कि ऐसा करके वे विधि की ऐसी घोषणा करते हैं जो भावी मामलों में आबद्धकर सिद्धांत के रूप में लागू होती है। इस पश्चातवर्ती पहलू में उनके द्वारा विधि शास्त्र का विकास करने का विशिष्ट मूल्य निहित है।

9. आबद्धकर पूर्व निर्णय के सिद्धांत की विशिष्टता न्यायिक विनिश्चयों में सुनिश्चितता और संगति को बढ़ावा देना तो है ही साथ ही यह व्यक्ति के उन संव्यवहारों के परिणामस्वरूप जो उसके दैनिक कामकाज का भाग होते हैं उसे विश्वास प्रदान करने के अलावा, विधि का सुव्यवस्थित विकास संभव बनाता है। और, इसलिए, न्यायालय के विनिश्चयों में विधिक सिद्धांत के स्पष्ट और संगत प्रतिपादना की आवश्यकता होती है।

10. तथापि, सामाजिक व्यवस्था के विनियमन के लिए मानव द्वारा विकसित समस्त सिद्धांतों की भांति, आबद्धकर पूर्वनिर्णय का सिद्धांत अपने अभिशासन न केवल प्रत्यक्ष परिसीमाओं द्वारा ही नियंत्रित हैं, अपितु परिवर्तनशील समाज में पुन: समायोजन की आवश्यकता के प्रति निर्देश द्वारा उद्भूत परिसीमाओं, उन विधिक प्रतिमानों के पुन: समायोजन जो परिवर्तित सामाजिक संदर्भ की मांग हैं, द्वारा भी नियंत्रित है। विधि को समाज को नवीन प्रवृतियों के अनुकूल बनाने की आवश्यकता होल्मस की इस सूक्ति के सत्य को उदघाटित करती है कि 'विधि का अस्तित्व तर्क पर आधारित न होकर अनुभव पर आधारित होता है'[1] और जब उसने एक और लेख में यह घोषित किया कि 'विधि सदैव एक ओर तो जीवन के नवीन सिद्धांत अपनाती रहती है',[2] और दूसरी ओर 'पुरातन सिद्धांतों' को त्यागती रहती है। होल्मस की सूक्ति के संकल्पनात्मक अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए, जुलियस स्टोन ने यह प्रतिपादित किया कि विद्यमान विधिक प्रतिपादनाओं पर आधारित तर्क के प्रवर्तन की अपेक्षा अनुभव से उद्भूत विधि से बाहर की नवीन प्रतिपादनाओं के प्रवेश से जो आधारवाक्य का काम करती हैं, या प्रतियोगी विधिक प्रतिपादनाओं के मध्य अनुभव-निर्देशित रुचि द्वारा, विधि के विकास का अवधारण किया जाता है।

11. विधि की बाध्यताएं विद्यमान विधिक प्रतिपादनाओं द्वारा परिसीमित नहीं की जा सकती हैं क्योंकि सदैव विद्यमान विधि की सीमाओं से परे ऐसे क्षेत्र होते हैं जिनके लिए न्यायिक संवीक्षा और न्यायिक रुचि तैयार करने की आवश्यकता होती है क्योंकि इनसे विद्यमान न्यायिक मताग्रह की विधिमान्यता प्रभावित हो सकती है। परिवर्तित सामाजिक युग के अनुकूल समाधानों की खोज में न केवल 'ऋजुता' अथवा 'युक्तियुक्तता' सरीखी विधि की प्रतियोगी प्रतिपादनाओं, या विधिक प्रतिपादना के प्रतियोगी रूपांतर, या अनिर्धार्यता की रूपात्मकता के मध्य खोज करनी पड़ेगी, अपितु अनुभवजन्य ज्ञान अथवा वर्तमान समय और स्थान के स्वीकृत मूल्यों के समनुषंग, और नवीन प्राचलों के अंतर्गत न्याय प्रदान करने के सुसंगत प्रभावी विधि से बाहर प्रतिपादनाओं के मध्य भी करनी पड़ेगी।

---

[1] ग्रालिवर वेण्डेल होल्मस : "द कामन लॉ", पृष्ठ 5.

[2] ग्रालिवर वेण्डेल होल्मस : "कामन कैरियर्स एण्ड द कामन ला (1943) 9 कर० एल० टी०387-388.

12. विधि के विकसित विषयों से संबंधित न्यायिक रुचि बनाने के लिए प्रस्तुत समस्याओं का ब्रह्मांड विस्तारित ब्रह्मांड है। विगत न्यायिक चयन के संचयन द्वारा नियंत्रण में लाए क्षेत्र व्यापक हो सकते हैं। फिर भी परिवर्तनशील सामाजिक, आर्थिक और प्रौद्योगिक परिस्थितियों के कारण और आगे चयन के लिए नए रूप में प्रस्तुत किए गए क्षेत्र विचार किए जाने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। यह भी ध्यान रखने की बात है कि नए विकल्प के बहुत से अवसर मात्र इस तथ्य से उद्भूत होते हैं कि कोई भी संतति विश्व को उसी अनुकूल परिस्थिति से नहीं देखती है जिससे उसके पूर्वज देखते थे, और न ही उसी बोध से। भिन्न अनुकूल परिस्थिति अथवा बोध की भिन्न गुणवत्ता के कारण प्रायः ऐसी रुचि तैयार करने की आवश्यकता पड़ती है जहां पहले किसी प्रकार के अनुकल्पों, अथवा समस्याओं को बिल्कुल भी नहीं समझा गया था। किसी विशिष्ट समय न्यायिक रुचि के क्षेत्रों का विस्तार न केवल विगत विनिश्चयों के संचयन का कार्य है, और न ही परिवेश में परिवर्तनों का, अपितु सांस्कृतिक और सामाजिक परंपरा में होने वाले परिवर्तनों द्वारा उद्भूत पुरातन और नवीन दोनों प्रकार की समस्याओं की नवीन अंतर्दृष्टि और परिप्रेक्ष्यों का भी।

13. यह बड़ी सामान्य बात है कि वस्तुओं की प्रकृति में पूर्व निर्णय की विधि के उदाहरणों का अनुसरण करने का महत्त्व होता है। फिर भी संवेदी न्यायिक अंतःकरण ऐसे विभिन्न प्रकार के प्रतिमानों की खोज करने के लिए मस्तिष्क को प्रायः प्रेरित करता है जो परिवर्तित सामाजिक संदर्भ के अधिक अनुकूल हैं। न्यायाधीश के समक्ष धर्मसंकट ऐसा नवीन संतुलन ढूंढने का कार्य उत्पन्न करता है जो प्रायः विरोधी गतिशीलताओं का सामंजस्य करने की वांछा द्वारा आवश्यक होता है। डीन रोस्को पाउण्ड के अनुसार, प्रतियोगी उद्देश्य न्यायाधीश में "मानव जाति को यह साबित करने का कि विधि नियत और स्थिर होती है, जिसके प्राधिकार को चुनौती नहीं दी जा सकती है, और जो साथ ही अनिश्चित और परिवर्तनशील मानवीय वांछाओं के दबाव के अधीन निरंतर पुनः समायोजन और अवसरिक आमूल परिवर्तन करने के लिए इसे समर्थ बनाता है[1]" उत्तरदायित्व निहित करते हैं। लार्ड रीड द्वारा 'द जज एज ला मेकर[2] में सुझाया गया समन्वय इन दोनों उद्देश्यों को दृष्टिगत रखने में निहित है कि "विधि को सुनिश्चित होना चाहिए, और उसे न्यायसंगत होते हुए समय के साथ चलना चाहिए।" उसकी राय की व्याख्या **मेयर्स** बनाम **डाइरेक्टर** आफ **पब्लिक प्रोसिक्यूशन्स**[3] वाले मामले में अंतर्विष्ट है, जिसमें उसने न्यायालय द्वारा विधि में परिवर्तन की आवश्यकता और उन परिसीमाओं को बताया है जिनके अंतर्गत ऐसा परिवर्तन किया जा सकता है। उसने कहा :

> "मैंने कभी भी अपील अधिकरण के रूप में इस सदन के कृत्यों के प्रति संकुचित दृष्टिकोण नहीं अपनाया है। परिवर्तित आर्थिक परिस्थितियों और विचार की आदतों को पूरा करने के लिए कामन विधि का विकास किया जाना चाहिए, और मैं इस सदन में पुराने मामलों में की गई मताभिव्यक्तियों से निवारित नहीं हूंगा। परंतु इसकी भी सीमाएं हैं जो हम कर सकते हैं या जो हमें करना चाहिए। यदि हमें विधि का विस्तार

---

1 रोस्को पाउंड : एन इंट्रोडक्शन टू द फिलोसफी आफ ला, पृ० 19.

2 "द जज एज ला मेकर" पृष्ठ 25-6.

3 एल० आर० 1965 ए० सी० 1001.

करना है तो यह मूल सिद्धांतों का विकास करके और उन्हें लागू करके किया जाना चाहिए। हम मनमानी शर्तें या परिसीमाएं समाविष्ट नहीं कर सकते हैं : यह विधान के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए। और यदि हम वास्तव में विधि में परिवर्तन करते हैं, तो मेरी राय में हमें ऐसा केवल उन मामलों में करना चाहिए जहां हमारा विनिश्चय अंतिम अथवा सुनिश्चित होगा।"

इस धर्मसंकट से निपटने में चाहे जो भी सफलता मिली हो, न्यायालय यह सुनिश्चित करने का समुचित प्रयास करेगा कि भले ही परिवर्तित सामाजिक परिवेश के अनुरूप चयन किए गए नवीन विधिक प्रतिमान से पूर्व प्रभावी प्रतिमान का परित्याग दर्शित होता है, तथापि इसमें सुनिश्चितता, स्पष्टता और स्थायित्व का ही सिद्धांत होना चाहिए।

14. पूर्ववर्ती स्थापित मानकों और प्रतिमानों की नवीन संहिता बनाए जाने के मध्य चयन करते समय इस न्यायालय का भारी उत्तरदायित्व और भी उस अनुक्रिया के कारण गंभीर और महत्त्वपूर्ण बन जाता है जो शीघ्रता से परिवर्तित सामाजिक और आर्थिक समाज से संबंधित है। भारत सरीखे विकासशील समाज में विधि उस मार्ग का अनुसरण करके अपना वास्तविक कार्य नहीं करती जो पहले ही विदीर्ण हो चुका है। विधि के कुछ क्षेत्रों में ऐसे प्रतिमान पाए जा सकते हैं जिनका 40 वर्ष पहले गुजर चुके विश्व के अनुभव और मूल्यों से शिक्षित न्यायिक रुचि के आधार पर चयन किया गया। उन सामाजिक शक्तियों के लिए जिन की ओर उस घटनाक्रम में ध्यान देने की आवश्यकता है जिससे नवीन समाज प्रकट हो रहा है, नवीन विचारों और नवीन परिप्रेक्ष्यों की आवश्यकता है। यह मान्यता कि समय में परिवर्तन हो रहा है और यह कि नवीन विधिशास्त्र के उद्भव का यह अवसर है इस न्यायालय द्वारा **बंगाल इम्म्यूनिटी कंपनी लिमिटेड** बनाम **बिहार राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में की गई इस मताभिव्यक्ति से प्रकट है कि वह अपने पूर्व निर्णयों से आबद्ध नहीं है और अपने निर्णयों को उलटने के लिए स्वतंत्र था जब वह परिवर्तित समय की आवश्यकताओं के अनुसार चलने के लिए ऐसा करना उपयुक्त समझे। इस सिद्धांत की स्वीकृति आबद्धकर पूर्वनिर्णय के सिद्धांत को दिए गए परिरक्षण और विधिसम्मतता को सुनिश्चित करती है और, इसलिए, समाज की परिवर्तित मांगों के अनुसार विधि की न्यायिक सर्जनात्मकता और अनुकूलता के लिए आवश्यक गुंजाइश प्रदान करते हुए विधि को सुनिश्चित और अंतिम रूप प्रदान करती है।

15. तब प्रश्न यह नहीं है कि क्या उच्चतम न्यायालय अपने पूर्व विनिश्चयों द्वारा आबद्ध है। वह बाध्य नहीं है। प्रश्न यह है कि किन परिस्थितियों के अंतर्गत और किन परिसीमाओं और किस रीति में सर्वोच्च न्यायालय को अपने स्वयं के निर्णयों को उलटना चाहिए।

16. इस प्रश्न की परीक्षा करते समय संभवतः उन अन्य अधिकारिताओं, विशिष्टतः उनकी अनुक्रिया के प्रति निर्देश करना उपयुक्त होगा जिनमें भारत में न्यायिक प्रणाली ने ऐतिहासिक संबंध उत्पन्न किए हैं। इंग्लैंड का हाउस आफ लार्ड्स न्यायिक निकाय का अद्भुत उदाहरण है और इसने अभी हाल ही में अपने स्वयं के निर्णयों को उलटने की शक्ति का दावा छोड़ा है। यह कहा जाता था कि हाउस आफ लार्ड्स कभी भी अपने स्वयं के निर्णयों को नहीं

---

[1] [1955] 2 एस० सी० आर० 603.

उलटता था अपितु केवल इन्हें अपने पूर्व विनिश्चयों से प्रभेदित करता था। हाउस आफ लार्ड्स के गलत विनिश्चय को संसद् के अधिनियम द्वारा ही ठीक किया जा सकता था। (देखिए **स्ट्रीट ट्रामवेज** बनाम **लंदन काउंटी कौंसिल**[1] और **रेडक्लिफ** बनाम **रिबल मोटर सर्विसेज लिमिटेड**[2])। प्रकटतः विद्यमान सामाजिक आर्थिक ढांचे में शीघ्रता से होते परिवर्तन के कारण न्यायालय पर रोपित वास्तविकता के दबाव के अंतर्गत, तारीख 26 जुलाई, 1966 को लार्ड गार्डिनर, एल० सी० ने स्वयं और साधारण लार्ड ऑफ अपील्स की ओर से यह कथन किया कि—

> "वे पूर्व निर्णय के प्रयोग को ऐसा अपरिहार्य आधार मानते हैं जिसको ध्यान में रखकर यह विनिश्चय किया जाता है कि विधि क्या है और वैयक्तिक मामलों में इसे कैसे लागू किया जाए। इससे कुछ हद तक सुनिश्चितता प्राप्त होगी जिसका व्यक्ति अपने कार्यों के संचालन में अवलंब ले सकते हैं और इसके साथ ही विधिक नियमों के व्यवस्थापित विकास के लिए आधार होगा।
>
> तथापि वे यह मानते हैं कि पूर्वनिर्णय के अति कड़ाई से अनुसरण से किसी विशिष्ट मामले में अन्याय हो सकता है और विधि का समुचित विकास भी असम्यक् रूप में निर्बंधित हो सकता है। अतएव, वे अपनी वर्तमान पद्धति में उपांतरण करना चाहते और, इस सदन के पूर्व विनिश्चयों को साधारणतः आबद्धकर मानते हुए, वे पूर्व विनिश्चय को छोड़ने को तैयार हैं यदि ऐसा करना सही प्रतीत हो।
>
> इस संबंध में वे भूतलक्षी रूप में उन आधारों में विघ्न डालने के खतरे जिन पर संविदाएं, संपत्ति का व्यवस्थापन और राज-वित्तीय ठहराव किए गए तथा दांडिक विधि को सुनिश्चितता प्रदान करने की निशेष आवश्यकता को भी ध्यान में रखेंगे।"

तब से हाउस ऑफ लार्ड्स ने 1975 तक विनिश्चित विभिन्न मामलों में दिशा-निर्देश विरचित किए हैं और यह दिशा-निर्देश डा० एलन पेटरसन कृत **'लॉ लार्ड्स'**[3] में संक्षिप्त रूप में दी गई हैं। उसने इन मामलों में लार्ड रीड द्वारा बताई गई विभिन्न कसौटियों के प्रति निर्देश किया है।

> 1. 1966 के पद्धति कथन द्वारा मंजूर की गई स्वतंत्रता का प्रयोग कम ही किया किया जाना चाहिए ('कम प्रयोग किया जाना' कसौटी) (**जोन्स** बनाम **सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फार सोशल सर्विसेज**[4])।
>
> 2. किसी विनिश्चय को उस समय तक नहीं उलटा जाना चाहिए यदि ऐसा करने से उन लोगों की विधिसंगत प्रत्याशा में बाधा पहुंचेगी जिन्होंने संविदाएं या व्यवस्थापन किए अथवा जो अन्यथा उस विनिश्चय की विधिमान्यता का अवलंब लेकर उनके कामकाज को विनियमित करता है ('विधिसंगत प्रत्याशा' कसौटी) (**रास स्मिथ** बनाम **रास स्मिथ**[5] और **इंडिका** बनाम **इंडिका**)[6]।

---

[1] 1898 अपील केसेज 305.

[2] 1939 अपील केसेज 215, 245.

[3] 1982 वां संस्करण : पृष्ठ 156-157.

[4] 1972 अपील केसेज 966.

[5] 1963 अपील केसेज 280, 303.

[6] [1969] 1 इंडियन अपील केसेज 33, 69.

3. कानून अथवा अन्य दस्तावेजों के अर्थान्वयन के प्रश्नों से संबंधित विनिश्चय को विरल और असाधारण मामलों के सिवाय नहीं उलटा जाना चाहिए ('अर्थान्वयन' कसौटी) (**आल्डेनडोर्फ एंड कं० बनाम ट्रेडेक्स एक्सपोर्ट**[1]) ।

4. (ए) किसी विनिश्चय को उस समय तक उलटा नहीं जाना चाहिए यदि लार्डों के लिए इसे छोड़ने के परिणामों को पहले से देखते हुए यह व्यवहार्य नहीं है ('अनपेक्षित कारणों' की कसौटी) (**स्टीडमेन** बनाम **स्टीडमेन**[2]) । (ख) किसी विनिश्चय को उस समय तक नहीं उलटा जाना चाहिए यदि ऐसा करने से ऐसा परिवर्तन होगा जो विधि के व्यापक सुधार का भाग है। ऐसे परिवर्तन 'संपूर्ण क्षेत्र के व्यापक सर्वेक्षण के परिणामस्वरूप विधान' द्वारा सर्वोत्तम रूप में किए जाते हैं ('व्यापक सुधार की आवश्यकता' की कसौटी) (**डी० पी० पी०** बनाम **मेयर्स**,[3] **केसेल** बनाम **ब्रूम**,[4] **हाउटन** बनाम **स्मिथ**[5]) ।

5. सुनिश्चितता के हित में, किसी विनिश्चय को मात्र इस कारण नहीं उलटा जाना चाहिए कि लॉ लार्ड्स की समझ में इसका गलत विनिश्चय किया गया था। ऐसे कदम को न्यायोचित ठहराने के कुछ अतिरिक्त कारण अवश्य होने चाहिएं ('पूर्व निर्णय के मात्र गलत होने' की कसौटी) (**खुल्लर बनाम डी० पी० पी०**[6]) ।

6. किसी विनिश्चय को तभी उलटा जाना चाहिए यदि इससे पद्धति में इतनी बड़ी सुनिश्चितता होती है कि पक्षकारों के सलाहकार इस बाबत जैसा कि विधि को जैसा होना चाहिए अभिनिर्धारित करेंगे किसी प्रकार का स्पष्ट संकेत करने में असमर्थ हैं ('अनिश्चितता की परिशुद्धि' की कसौटी) **आल्डेनडोर्फ एंड कं०** बनाम **ट्रेडेक्स एक्सपोर्ट**[7] ।

7. किसी विनिश्चय को तभी उलटा जाना चाहिए यदि कुछ सामान्य विवाद्यक अथवा सिद्धांत के संबंध में ऐसा न्यायसंगत या समकालीन सामाजिक परिवेश या लोक नीति की आधुनिक संकल्पनाओं के अनुरूप नहीं समझा गया ('अन्यायसंगत या पुराने' की कसौटी) **कानवे** बनाम **रिम्पर**[8]

16. (क) डॉ० पेटरसन ने यह उल्लेख किया कि 1966 में 1988 के मध्य के वर्षों में ऐसे उनतीस मामले सामने आये जिनमें हाउस ऑफ लार्ड्स को अपने एक पूर्व निर्णय को उलटने के लिए निवेदन किया गया था, यह कि हाउस ऑफ लार्ड्स ने उनमें से आठ मामलों में ऐसा किया जबकि आगे के दस मामलों में कम से कम एक लॉ लार्ड पूर्ववर्ती हाउस आफ लार्ड्स

---

[1] एस० ए० (1974) 479, 533, 535.
[2] 1976 अपील केसेज 536, 542.
[3] [1965] अपील केसेज 1001, 1022.
[4] [1972] अपील केसेज 1027, 1086.
[5] [1975] अपील केसेज 476, 500.
[6] [1973] अपील केसेज 435, 455.
[7] [1974] अपील केसेज 479, 533, 535.
[8] [1968] अपील केसेज 910, 938.

के पूर्व निर्णय को उलटने के लिए रजामंद था। तथापि, अन्य बहुत से मामलों में, हाउस ऑफ लार्ड्स ने पूर्व विनिश्चयों को उलटने की अपेक्षा उनमें प्रभेद करने को अधिमानता दी।

17. आस्ट्रेलिया उच्च न्यायालय, जोकि कामन वेल्थ (राष्ट्रमंडल) में सर्वोच्च न्यायालय है, अपने स्वयं के विनिश्चय पर पुनर्विचार करने की शक्ति अपने पास आरक्षित रखी है, तथापि उसने यह अधिकथित किया है कि इस शक्ति का प्रयोग मात्र इस सुझाव के आधार पर नहीं किया जाएगा कि पश्चातवर्ती न्यायालय के कुछ या समस्त सदस्य भिन्न निष्कर्ष निकालेंगे यदि मामला अनिर्णीत विषय है। **ट्रायवेज**[1] वाले मामले में मुख्य न्यायमूर्ति ग्रिफिथ ने ऐसा करते हुए मे चेतावनी दी---

> "मेरी राय में, इस काल्पनिक विचार का समर्थन करना असंभव है कि न्यायालय या तो विधिक रूप में अथवा तकनीकी रूप में पूर्व विनिश्चयों द्वारा आबद्ध है। वास्तव में, वह किसी उपयुक्त मामले में अपने कर्त्तव्य के रूप में उनकी अवहेलना कर सकता है। तथापि, इस नियम को बड़ी सावधानी के साथ लागू किया जाना चाहिए, और केवल उसी स्थिति में यदि पूर्व विनिश्चय प्रकटतः गलत है, यथा उदाहरणार्थ यदि इसकी कार्यवाही किसी निरसित या समाप्त कानून के जारी रखे जाने की गलत धारणा पर की गई या यह किसी अन्य न्यायालय के ऐसे विनिश्चय के विरुद्ध है जिसका यह न्यायालय अनुसरण करने के लिए आबद्ध है; नहीं, मैं यह मात्र इस सुझाव पर यह समझता हूं कि पश्चातवर्ती न्यायालय के कुछ या समस्त सदस्य भिन्न निष्कर्ष निकालेंगे यदि मामला अनिर्णीत विषय है। अन्यथा विधि के निर्वचन में निरंतरता के अभाव में गंभीर खतरा होगा।"

इसी मामले में न्यायमूर्ति बार्टन ने पृष्ठ 69 पर यह मताभिव्यक्ति की—

> "......मैं यह कहूंगा कि मैंने ऐसा कभी सोचा ही नहीं कि इस न्यायालय को किसी अच्छे हेतुक के आधर पर अपने पूर्व विनिश्चयों का पुनर्विलोकन करने की स्वतंत्रता नहीं है। प्रश्न यह नहीं है कि क्या न्यायालय ऐसा कर सकता है अपितु क्या यह न्यायिक विनिश्चय में निरंतरता और सुसंगति की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ऐसा करेगा। मैं यह समझता हूं कि नियुक्त न्यायमूर्तियों की संख्या में परिवर्तन स्वयं में पुनर्विलोकन का कारण नहीं हो सकता.........तथापि, न्यायालय सदैव इस दलील को ध्यान में रखेगा कि क्या उसे किसी विशिष्ट विनिश्चय का पुनर्विलोकन करना चाहिए, और उसे उलटने का सबसे सशक्त कारण यह है कि विनिश्चय प्रकटतः गलत है : और इसे कायम रखा जाना लोकहित के लिए घातक है।"

18. संयुक्त राज्य अमरीका में सुप्रीम कोर्ट ने अनेक मामलों में अपने पूर्व विनिश्चय स्पष्टतः उलटे हैं और इसके प्रति निर्देश न्यायमूर्ति ब्राण्डीज द्वारा **स्टेट आफ वाशिंगटन** बनाम **डावसन एंड कंपनी**[2] वाले मामले में सुनाए गए निर्णय में पाया जा सकता है। इस निर्णय में उसने यह कहा—

---

1 [1914] 18 सी० एल० आर० 54.

2 264 यू० एस० 646, 68 एल० संस्करण 219.

"निर्णीतानुसरण का सिद्धांत हमें उस मामले को और उनको जिनका वह अनुसरण करता है उलटने से विरत नहीं करेगा। ये मामले अभी हाल ही के हैं। उन्हें मौन स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई है। इन्होंने संपत्ति का ऐसा कोई नियम सर्जित नहीं किया है जिसका निहित स्वार्थों ने अवलंब लिया है। वे एक मात्र रूप में अस्थायी प्रकृति के मामलों को प्रभावित करते हैं। दूसरी ओर, वे पुरुषों, महिलाओं और बालकों, और सामान्य कल्याण को गंभीर रूप में प्रभावित करते हैं। निर्णीतानुसरण साधारणतः कार्रवाई का विवेकपूर्ण नियम है। तथापि, यह सार्वभौमिक और अटल समावेश नहीं है। ऐसे बहुत से दृष्टांत हैं जिनमें न्यायालयों ने इसकी भर्त्सना की अवहेलना की है।"

डेविड बरनेल बनाम **कारोनाडो आयल एंड गैस कंपनी**[1] वाले अपने विसम्मति प्रकट करने वाले निर्णय में अपनी बात स्पष्ट करते हुए न्यायमूर्ति ब्राडीज़ ने यह मत व्यक्त किया—

"निर्णीतानुसरण सामान्यतः विवेकपूर्ण नीति है, क्योंकि अधिकांश मामलों में यह अति महत्वपूर्ण है कि लागू किया जाने वाला विधि का नियम सही रूप में तय किया जाए। कम्पेयर नेशनल बैंक **बनाम** विह्टने वाले मामले [103 यू० एस० 99, 26 एल० एडिशन 443-444] में। यह सामान्यतः सत्य है कि जहां भूल गंभीर चिंता की बात है, परंतु यह तब जबकि इसे विधान द्वारा सुधारा जा सके। परंतु ऐसे मामलों में जो परिसंघीय संविधान से संबंधित हैं और जिनमें विधायी कार्रवाई के माध्यम से सुधार व्यावहारिकतः असंभव है, इस न्यायालय ने प्रायः अपने पूर्व विनिश्चयों को उलटा है। न्यायालय यह मानते हुए कि विचारण और भूल की प्रक्रिया भौतिक विज्ञानों में तो लाभप्रद है ही न्यायिक कार्य में भी उपयुक्त है, अनुभव की शिक्षा और बेहतर विवेचन के बल को भी मान्यता प्रदान करता है।"

19. प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति ने भी यह मत अपनाया कि वह विधि में अपने पूर्व विनिश्चयों द्वारा आबद्ध नहीं है, किंतु **कंपेनसेशन टू सिविल सर्वेण्ट्स**[2] वाले मामले में उसने यह घोषित किया कि वह "किसी पूर्व बोर्ड के ऐसे सत्यनिष्ठ विनिश्चय में हस्तक्षेप करने में हिचकिचाएगा, जिसमें अवधारणार्थ समरूप या वैसा ही विवाद्यक उठाया गया" और इसी संकोच को **अटर्नी जनरल आफ आनटारिओ** बनाम **कनाडा टेम्पेरन्स फेडरेशन**[3] और **फणीन्द्र चन्द्र नियोगी** बनाम **दि किंग**[4] वाले मामले में दोहराया।

20. इंग्लैंड, आस्ट्रेलिया और संयुक्त राज्य अमरीका के इन मामलों पर इस न्यायालय द्वारा उपर्युक्त **द बंगाल इम्मयूनिटी कंपनी लिमिटेड** बनाम **बिहार राज्य और अन्य** वाले मामले में विचार किया गया और संभवतः इस देश के उच्चतम न्यायालय को प्रथम बार लिखित रूप में यह विचार करने के लिए अनुरोध किया गया कि क्या वह अपने द्वारा दिए

---

1 285 यू० एस० 393; 76 एल० एडिशन 815.

2 एल० आर० 1929 अपील केसेज 242 : ए० आई० आर० 1929 प्रिवी कौंसिल 84, 87.

3 एल० आर० 76 ओ० ए० 10.

4 [1955] 2 एस० सी० आर० 603.

1989(5) eILR(PAT) SC 23

गए पूर्व विनिश्चय को उलट सकता था। सात न्यायाधीशों का न्यायपीठ इस बाबत विचार करने के लिए बनाया गया कि क्या **स्टेट आफ बाम्बे** बनाम **यूनाइटेड मोटर्स (इंडिया) लिमिटेड**[1] वाले मामले में पांच न्यायाधीशों के संविधान न्यायपीठ के बहुमत का विनिश्चय पर पुनः विचार किया जाना चाहिए। सात न्यायाधीशों के न्यायपीठ के चार न्यायाधीशों ने यह कहा कि वह ऐसा कर सकता था और उन्होंने उपर्युक्त यूनाइटेड मोटर्स वाले मामले के बहुमत के विनिश्चय को उलटने के पक्ष में मत व्यक्त किया। शेष तीन न्यायाधीशों ने इसके विरुद्ध मत व्यक्त किया। कार्यवाहक मुख्य न्यायमूर्ति दास ने स्वयं की ओर से और न्यायमूर्ति बोस, भगवती और जाफर इमाम की ओर से निर्णय सुनाते हुए अमरीकी सुप्रीम कोर्ट द्वारा अपनाए गए मत को अधिमानता दी क्योंकि उस विद्वान् न्यायाधीश के विचार में, भारत की स्थिति इंग्लैंड की स्थिति की अपेक्षा संयुक्त राज्य अमरीका की स्थिति के काफी निकट है। इंग्लैंड में पार्लमेंट स्थिति को साधारण बहुमत द्वारा सुधार सकती थी और आस्ट्रेलिया में भूल को प्रिवी कौंसिल के समक्ष अपील में ठीक किया जा सकता था। विद्वान न्यायाधीश ने यह मताभिव्यक्ति की : "हमारे संविधान में ऐसा कुछ नहीं है जो हमें उस स्थिति में पूर्व विनिश्चय से विचलन करने से रोके यदि हमें इसके गलत होने और सामान्य लोकहित पर इसका घातक प्रभाव होने का विश्वास है।" उस परिस्थिति के प्रति निर्देश किया गया कि संविधान का अनुच्छेद 141 इस न्यायालय द्वारा घोषित विधि को भारत के समस्त न्यायालयों पर आबद्धकर बनाता है। न्यायालय के समक्ष विनिर्दिष्ट मामले के प्रति निर्देश करते हुए, विद्वान् न्यायाधीश ने उपर्युक्त **यूनाइटेड मोटर्स**[1] वाले पूर्व विनिश्चय के उपभोग करने वाली जनता के सामान्य शरीर पर होने वाले व्यापक प्रभाव के प्रति निर्देश किया, और यह कि पूर्वोक्त विनिश्चय में की गई गलती के परिणामस्वरूप जनता पर गलत रूप में अधिरोपित कर का भार बना रहेगा और इससे 'प्रकटतः और पूर्णतः अप्राधिकृत' परिणाम उद्भूत होंगे।

21. विद्वान् न्यायाधीश ने यह मताभिव्यक्ति की : "यह दो प्राइवेट व्यक्तियों के परस्पर अधिकारों की घोषणा करने वाला साधारण निर्णय सुनाया जाना नहीं है। इसमें उपभोग करने वाले जनसाधारण के मुकाबले में राज्यों की कराधायक शक्ति का न्यायनिर्णयन अंतर्वलित है। यदि विनिश्चय गलत है, जैसी कि वास्तव में हम कल्पना करते हैं, अवैध कर के उस भार से जनता की संरक्षा करने का हमारा दायित्व बन जाता है जिन्हें अभी हाल ही में दिए गए इस गलत विनिश्चय के बल पर अधिरोपित करने की राज्य ईप्सा कर रहे हैं।" 'इस बाबत सचेत रहते हुए कि न्यायालय मात्र इस कारण मतभेद दर्शित नहीं करेंगे कि प्रतिकूल मत अधिमान योग्य प्रतीत होता था, विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिपुष्टि की कि हम इस न्यायालय के पूर्व निर्णय से सरलतापूर्वक विसम्मति प्रकट नहीं करेंगे।" किंतु यदि पूर्व विनिश्चय स्पष्टतः गलत है, तो उसके अनुसार, ऐसा करना और भूल को न करने देना न्यायालय का कर्त्तव्य है। निर्णीतानुसरण के सिद्धांत का निवेदन इस आधार पर नामंजूर कर दिया गया कि (क) उलटने के लिए आशयित विनिश्चय अभी हाल ही का विनिश्चय था और इसमें विभिन्न विनिश्चयों को उलटा जाना अंतर्वलित नहीं था, और (ख) निर्णीतानुसरण का सिद्धांत कठोर नियम नहीं था और इसे किसी भी स्थिति में मोड़ा जा सकता था जहां

[1] [1953] एस० सी० आर० 1069

इसका अनुसरण किए जाने के परिणामस्वरूप जनता के या इसके काफी बड़े भाग के सामान्य कल्याण अहित में गलती की जाती रहेगी।

22. तब से इस प्रश्न पर कि उच्चतम न्यायालय को अपने स्वयं के विनिश्चय को कब उलटना चाहिए अनेक मामलों में विचार किया गया है। उपर्युक्त **बंगाल इम्म्युनिटी**[1] वाले मामले का अवलंब लेते हुए, न्यायमूर्ति खन्ना ने यह टिप्पणी की कि विधि की निश्चतता, जोकि विधि शासन का आवश्यक संघटक है, का काफी क्षय होगा यदि देश का सर्वोच्च न्यायालय अपने द्वारा पूर्ववर्ती मामलों में व्यक्त किए गए मत को सरलता से उलट देता है। ऐसा एक दृष्टांत जहां इस प्रकार उलट जाना उसी स्थिति में अनुज्ञेय जहां पूर्ववर्ती मत को उद्भूत करने वाले प्रासंगिक मूल्यों में तब से काफी परिवर्तन हो चुका है। **मगनलाल छगनलाल (प्रा०) लिमिटेड** बनाम **बृहत्तर मुंबई नगर निगम और अन्य**[2] वाले मामले में उसने यह स्पष्ट किया कि—

> "हो सकता है कुछ नये पहलू प्रकाश में आ जाएं और यह आवश्यक हो जाए कि उन नई स्थितियों से निपटने के लिए अथवा ऐसी कठिनाइयों पर काबू पाने के लिए, जो कि पहले प्रकाश में नहीं आई थीं, या जिनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया था, जबकि पूर्ववर्ती मत प्रतिपादित किया गया था, नए आधारों पर विचार किया जाए। पूर्वोदाहरण का अपना मूल्य होता है और किसी मामले का विनिश्चयाधार निस्संदेह भावी मामलों के विनिश्चय में मदद दे सकता है। साथ ही साथ हमें जैसा कि कारडोजो ने मत व्यक्त किया है, इस विचार के बारे में सतर्क रहना चाहिए कि चूंकि बहुत से सिद्धांतों का सूत्रपात किसी समस्या विशेष के विनिश्चयाधार के रूप में कर दिया गया है, इसलिए उसे कड़ाई से तथा स्वतः उसकी सर्वाधिक व्यापकता में अन्य समस्याओं के उचित समाधान लागू किए ही जाने चाहिएं, भले ही उसके परिणाम कुछ भी हों और उसके परिणामस्वरूप कुछ प्रतिकूल तत्व उत्पन्न हो जाएं। जैसा कि जीवन में होता है, उसी प्रकार विधि के क्षेत्र में भी स्थिति गतिहीन नहीं होती है।"

23. **लेफ्टिनेंट कर्नल खजूर सिंह** बनाम **भारत संघ और एक अन्य**[3] वाले मामले में, इस न्यायालय के बहुमत ने यह जोर दिया कि न्यायालय को अपने पूर्व निर्णय में किए गए निर्वचन से उस समय तक विचलन नहीं करना चाहिए जब तक कि इस बाबत काफी हद तक मतैक्य न हो कि पूर्ववर्ती विनिश्चय प्रकटतः गलत है। **केशव मिल्स कंपनी** बनाम **आयकर आयुक्त**[4] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह मताभिव्यक्ति की कि वह अपने पूर्व विनिश्चय का पुनरीक्षण करने में न्यायोचित होगा यदि ऐसा करने के बाध्यकारी और पर्याप्त कारण हैं। **सज्जन सिंह** बनाम **राजस्थान राज्य**[5] वाले मामले में न्यायालय ने यह कसौटी अधिकथित की :

---

[1] [1955] 2 एस० सी० आर० 603.

[2] [1974] 2 उम० नि० प० 952=(1975) 1 एस० सी० आर० 1.

[3] [1961] 2 एस० सी० आर० 828.

[4] [1965] 2 एस० सी० आर० 908, 921.

[5] [1965] 1 एस० सी० आर० 933, 947-948.

1989(5) eILR(PAT) SC 23

"क्या यह पूर्णतः आवश्यक और जरूरी है कि पहले विनिश्चित प्रश्न पर पुनर्विचार किया जाए ?" और आगे यह मताभिव्यक्ति की—

"इस प्रश्न का उत्तर पूर्व विनिश्चय में अभिकथित कमी की प्रकृति, लोक हित पर उसके प्रभाव और विधिमान्यता तथा प्रतिकूल मत के समर्थन में निवेदित विचारणाओं का बाध्यकारी स्वरूप पर निर्भर करेगा।" जैसा कि **गिरधारी लाल गुप्ता** बनाम **डी० एच० मेहता**[1] वाले मामले में मताभिव्यक्ति की गई कि इस बाबत कोई संदेह नहीं हो सकता है कि जहां कोई पूर्ववर्ती सुसंगत कानूनी उपबन्ध न्यायालय की अवेक्षा में न लाया गया हो, तो विनिश्चय का पुनर्विलोकन किया जा सकता है, या जैसा कि **पिलानी इन्वेस्टमेंट कारपोरेशन लिमिटेड** बनाम **आयकर अधिकारी 'ए' वार्ड कलकत्ता और एक अन्य**[2] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया गया कि यदि किसी मुख्य मुद्दे पर विचार नहीं किया गया है, तो विनिश्चय का पुनर्विलोकन किया जा सकता है।

उपर्युक्त **केशव मिल्स कंपनी** बनाम **आयकर आयुक्त**[3] वाले उपर्युक्त मामले में इस समस्या की विस्तृत परीक्षा की गई। इस मामले में न्यायालय ने यह कहा कि—

> "यह संभव या वांछनीय नहीं है, और किसी भी मामले में ऐसा कोई सिद्धांत अधिकथित करना असमीचीन होगा जो न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चियों का पुनर्विलोकन और पुनरीक्षण करने के प्रश्न पर विचार करने से संबंधित न्यायालय के दृष्टिकोण को शासित करेगा। यह सदैव ऐसी अनेक सुसंगत विचारणाओं पर निर्भर करेगा—इस कमी या गलती की प्रकृति क्या है जिस पर पूर्व मत के पुनर्विलोकन और पुनरीक्षण का अभिवाक् आधारित है? पूर्व अवसर पर, क्या प्रश्न का कोई स्पष्ट पहलू अवेक्षा बिना रह गया था, अथवा क्या न्यायालय का ध्यान किसी सुसंगत और तात्विक कानूनी उपबंध की ओर आकृष्ट नहीं किया गया था, अथवा क्या इस मुद्दे से संबंधित इस न्यायालय के किसी पूर्व विनिश्चय की अवेक्षा नहीं की गई थी? क्या न्यायालय ऐसे अभिवाक् को सुनने में समुचित रूप में एकमत था कि पूर्वमत में ऐसी गलती है? विधि के सामान्य प्रशासन या लोकहित पर इस गलती का क्या प्रभाव होगा? क्या पूर्व विनिश्चिय का अनुसरण इस न्यायालय या उच्च न्यायालयों द्वारा पश्चात्वर्ती अवसरों पर किया गया है? और, क्या पूर्व विनिश्चय के उलटने के परिणामस्वरूप जनता को असुविधा, कठिनाई या रिष्टि होगी? इन और अन्य सुसंगत विचारणाओं को सावधानीपूर्वक ध्यान में रखा जाना चाहिए जब कभी भी इस न्यायालय से अपने पूर्ववर्ती विनिश्चयों का पुनर्विलोकन और पुनरीक्षण करने की अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए कहा जाए। ये विचारणाएं उस समय और भी महत्वपूर्ण बन जाती हैं जब पूर्ववर्ती विनिश्चय इस न्यायालय के पांच विद्वान् न्यायाधीशों की न्यायपीठ का एकमत विनिश्चय हो।"

24. इस न्यायालय की संविधान न्यायपीठ द्वारा दिए गए विनिश्चयों की अंतिमता

[1] [1971] 2 उम० नि० प० 308=[1971] 3 एस० सी० आर० 748.

[2] [1972] 2 उम० नि० प० 1=[1972] 2 एस० सी० आर० 502.

[3] [1965] 2 एस० सी० आर० 908, 921.

की बाबत टिप्पणी को काफी महत्व दिया गया है, और **गंगा शुगर कंपनी** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में न्यायालय ने केवल उस स्थिति में अंतिमता के विरुद्ध अभिनिर्धारित किया जहां विषय "राष्ट्रीय जीवन के ऐसे मूल महत्व का था अथवा तर्क पश्चात्वर्ती विचार के प्रकाश में इस प्रकार स्पष्टत: गलत है कि निरंतर गलत होने की अपेक्षा अंततोगत्वा सही होना विवेकपूर्ण है।"

25. इस मुद्दे के संबंध में सभी मामलों के प्रति निर्देश करना आवश्यक नहीं है। उपर्युक्त से सामान्य दिशानिर्देश सरलतापूर्वक प्राप्त किए जा सकते हैं। इन मार्गदर्शक सिद्धांतों को आगे परिभाषित करने की संभावना आगे विधिक अनुभव के साथ परिकल्पित की जा सकती है, और जब विधि की विभिन्न राष्ट्रीय प्रणालियों से संबंधित सामान्य विधि शास्त्र संबंधी मूल्यों के कारण सहमतिजन्य पद्धति संभव हो। परंतु यह भविष्य की बात है।

26. इस प्रश्न की बाबत कुछ वाद-विवाद हुआ था कि क्या न्यायाधीशों की खंड न्यायपीठ अधिक संख्या वाले न्यायाधीशों के खंड न्यायपीठ द्वारा अधिकथित विधि का अनुसरण करने के लिए बाध्य है। इस मुद्दे पर **जावेद अहमद हमीद पावला** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[2] वाले मामले में न्यायमूर्ति ओ० चिन्नप्पा रेड्डी द्वारा व्यक्त किए गए कतिपय मतों के कारण संदेह उद्भूत हुआ है। पहले दो न्यायाधीशों वाले खंड न्यायपीठ ने, जिनमें से वह एक था, **टी० वी० वथीस्वर्ण** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[3] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया था कि मृत्यु दंडादेश के निष्पादन में दो वर्ष से अधिक के विलंब को मृत्यु दण्डादेश के अधीन व्यक्ति को संविधान के अनुच्छेद 21 का आश्रय लेने और मृत्यु दण्डादेश को अभिखण्डित करने की मांग करने के लिए हकदार बनाने के लिए पर्याप्त समझा जाना चाहिए। उसने यह मताभिव्यक्ति की कि ऐसा तब भी होगा। यदि निष्पादन में विलंब अपील फाइल करने के लिए आवश्यक समय अथवा अभियुक्त के दण्ड स्थगन पर विचार करने अथवा किसी अन्य हेतुक से, जिसके लिए अभियुक्त स्वयं उत्तरदायी हो, हुआ है। इस मत को **शेरसिंह और अन्य** बनाम **पंजाब राज्य**[4] वाले मामले में तीन न्यायाधीशों वाले न्यायपीठ द्वारा अस्वीकार किया गया। इस मामले में विद्वान् न्यायाधीशों ने यह मताभिव्यक्ति की कि इस बाबत कोई निश्चित नियम अधिकथित नहीं किया जा सकता था। उपर्युक्त **टी० वी० वथीस्वर्ण**[3] वाले उपरोक्त मामले में व्यक्त किए गए मत से सीधे असहमति व्यक्त करते हुए, विद्वान् न्यायाधीशों ने यह कहा कि उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय तथा कार्यपालक प्राधिकारियों के समक्ष कार्यवाहियों में लगे समय की गणना की जानी चाहिए, और यह विचार करना सुसंगत है कि क्या विलंब अभियुक्त के आचरण के कारण हुआ था। उपर्युक्त **जावेद अहमद अब्दुल हमीद पावला**[2] वाले मामले में दो न्यायाधीशों के एक अन्य न्यायपीठ के एक सदस्य के रूप में न्यायमूर्ति ओ० चिन्नप्पा रेड्डी ने उपर्युक्त **शेर सिंह**[1] वाले मामले में की गई मताभिव्यक्तियों की विधिमान्यता को

---

[1] [1980] 3 उम० नि० प० 987=[1980] 1 एस० सी० आर० 769, 782.

[2] [1985] 4 उम० नि० प० 1482=ए० आई० आर० 1985 एस० सी० 231.

[3] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 361.

[4] [1983] 3 उम० नि० प० 211=ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 465.

चुनौती दी और इस मुद्दे पर कोई अंतिम राय व्यक्त किए बिना यह टिप्पण किया, कि यह गंभीर प्रश्न है कि "क्या तीन न्यायाधीशों वाला यह खंड न्यायपीठ मात्र इस कारण दो न्यायाधीशों वाले खंड न्यायपीठ के निर्णय को उलट सकता था कि तीन दो से अधिक होते हैं। न्यायालय सुविधा की दृष्टि से दो और तीन न्यायाधीशों के खंडों में बैठता है और तीन न्यायाधीशों वाले खंड न्यायपीठ के लिए दो न्यायाधीशों वाले खंड न्यायपीठ के विनिश्चिय को उलटना अनुपयुक्त होगा। देखिए **यंग बनाम ब्रिस्टल एरोप्लेन कं० लिमिटेड**[1]। ऐसा अन्यथा वहां होगा जहां पूर्ण न्यायपीठ अथवा संविधान न्यायपीठ ऐसा करे।" यहां यह अभिलिखित करना उपयुक्त रहेगा कि उपर्युक्त शेर सिंह वाले मामले में व्यक्त की गई राय की विधिमान्यता की बाबत व्यक्त किए गए संदेह के कारण, मृत्यु दंडादेश के निष्पादन में हुए विलंब के प्रभाव का प्रश्न पांच न्यायाधीशों वाले खंड न्यायपीठ के लिए निर्दिष्ट किया गया था, और **त्रिबेनीबेन** बनाम **गुजरात राज्य**[2] वाले मामले में संविधान न्यायपीठ ने उपर्युक्त **टी० वी० वथीस्वर्ण**[3] वाले मामले को उलट दिया।

27. तब ऐसे किसी मामले के संबंध में जिसमें बाद में कम संख्या वाले न्यायाधीशों के खंड न्यायपीठ के समक्ष उसी मुद्दे को उठाया गया है खंड न्यायपीठ द्वारा सुनाए गए विधि के प्रभाव के संबंध में क्या स्थिति होनी चाहिए ? इस बाबत किसी प्रकार का कोई सांविधानिक या कानूनी उपबंध नहीं है, और यह मुद्दा पूर्णत: भारत में न्यायालयों की उस प्रथा द्वारा शासित है जिसकी शताब्दियों से बार-बार अभिपुष्टि की गई है। इस बाबत कोई संदेह नहीं किया जा सकता है कि किसी वरिष्ठ न्यायालय द्वारा अधिकथित विधि में संगति और सुनिश्चितता की अभिवृद्धि करने के लिए आदर्श संकल्पना यह होगी कि विधि के प्रश्नों का विनिश्चय करने के लिए संपूर्ण न्यायालय समस्त मामलों में सुनवाई करे, और इस कारण अमरीकी सुप्रीम कोर्ट ऐसा करता है। किंतु उस कार्य की मात्रा को देखते हुए जिसकी ओर न्यायालय को ध्यान देना पड़ता है, भारत में पद्धति और सुविधा के सामान्य नियम के रूप में यह आवश्यक हो गया है, कि न्यायालय को खंडों में सुनवाई करनी चाहिए, और प्रत्येक खंड में न्यायाधीश हों जिनकी संख्या न्यायिक आवश्यकता की अत्यावश्यकताओं, इससे संबंधित किसी कानूनी आदेश को सम्मिलित करते हुए मामले की प्रकृति द्वारा, और ऐसी अन्य विचारणाओं द्वारा अवधारित हो जिन्हें मुख्य न्यायमूर्ति, जिसमें ऐसा प्राधिकार परिपाटी द्वारा न्यागत होता है, अति उपयुक्त पाएं। विभिन्न खंड न्यायपीठों द्वारा विधि के मुद्दों पर विसंगत विनिश्चयों की संभावनाओं के विरुद्ध रक्षा करने के लिए ही इस नियम का विकास किया गया है ताकि विधि और उसके समकालीन स्तर के विकास में संगति और सुनिश्चितता की अभिव्यक्ति हो सके, यह कि विधि का कथन खंड न्यायपीठ द्वारा उसी खंड न्यायपीठ का अथवा कम संख्या वाले न्यायधीशों को न्यायपीठों पर आबद्धकर समझा जाए। इस सिद्धांत का अनुसरण भारत में न्यायाधीशों के अनेकों पीढ़ियों द्वारा किया गया है। हम इस मुद्दे पर अभी हाल के कुछ मामलों के प्रति निर्देश कर सकते हैं। **जान मार्टिन** बनाम **पश्चिमी बंगाल**

[1] [1944] 2 आल इंग्लैंड रिपोर्ट 293.

[2] [1989] 4 उम० नि० प० 715=ए० आई० आर० 1989 एस० सी० 142.

[3] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 361.

1989(5) eILR(PAT) SC 23

राज्य[1] वाले मामले में, तीन न्यायाधीशों के खंड न्यायपीठ ने **भूतनाथ माटे** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[2] **वाले मामले**, जिसका विनिश्चय दो न्यायाधीशों के खंड न्यायपीठ द्वारा किया गया था, की अपेक्षा **हरधन साहा** ब० **पश्चिमी बंगाल राज्य**[3] वाले मामले में घोषित विधि का अनुसरण, सही ठहराया, जिसका विनिश्चय पांच न्यायाधीशों के खंड न्यायपीठ द्वारा किया गया था। तथापि **इंदिरा नेहरू गांधी** बनाम **श्री राजनारायण वाले मामले**[4] में न्यायमूर्ति बेग ने यह अभिनिर्धारित किया कि पांच न्यायाधीशों का संविधान न्यायपीठ **केशवानंद भारती श्रीपदगालवरू पूज्य जी** बनाम **केरल राज्य**[5] वाले मामले में तेरह न्यायाधीशों के संविधान न्यायपीठ द्वारा आबद्ध था। **गणपति सीताराम बालवलकर और एक अन्य** बनाम **वामन श्रीपदमागे** (मृत)[6] विधिक प्रतिनिधियों के माध्यम से मामले में इस न्यायालय ने अभिव्यक्ततः यह कहा कि इस न्यायालय के चार न्यायाधीशों के खंड न्यायपीठ द्वारा विधि के किसी मुद्दे पर अपनाया गया मत न्यायालय के तीन न्यायाधीशों के खंड न्यायापीठ पर आबद्धकर था। और **मट्टूलाल** बनाम **राधेलाल वाले मामले**[7] में इस न्यायालय ने विनिर्दिष्टतः यह मताभिव्यक्ति की कि जहां इस न्यायालय के दो विभिन्न न्यायापीठों द्वारा मताभिव्यक्ति का मेल न हो तो अधिक संख्या वाले न्यायाधीशों के खंड न्यायपीठ द्वारा सुनाए गए निर्णय को कम संख्या वाले न्यायाधीशों के खंड न्यायपीठ के विनिश्चय की अपेक्षा अधिमान दिया जाएगा।

इस न्यायालत ने भी **आचार्य महाराज श्री नरेन्द्रप्रसाद जी आनंदप्रसाद जी महाराज और अन्य** बनाम **गुजरात राज्य और अन्य**[8] वाले मामले में यह अधिकथित किया कि ऐसे मामले में भी जहां दो भिन्न मत वाले खंड न्यायपीठों में समान संख्या वाले न्यायाधीश थे, एक खंड न्यायपीठ के लिए दूसरे के मत की शुद्धता या अन्यथा का विनिश्चय करने की छूट नहीं थी। इस सिद्धांत की **भारत संघ और अन्य** बनाम **गोडफ्रे फिलिप्स इंडिया लिमिटेड**[9] वाले मामले में पुनः अभिपुष्टि की गई थी। इस मामले में यह उल्लेख किया गया कि **जीतराम** बनाम **हरियाणा राज्य**[10] वाले मामले में इस न्यायालय के दो न्यायाधीशों के खंड न्यायपीठ ने इस मुद्दे पर कि, क्या प्रोमसरी विबंध के सिद्धांत को कार्यपालक आवश्यकता की प्रतिरक्षा का अवलंब लेकर विफल किया जा सकता था, और यह अभिनिर्धारित करके कि ऐसा करना पूर्णतः अमान्य था पश्चात्वर्ती न्यायपीठ की उस सुस्वीकृत और वांछनीय पद्धति के प्रति निर्देश किया गया जिसमें विद्वान् न्यायाधीशों के यह निष्कर्ष निकालने पर कि निर्देश किया जाना स्थिति की मांग थी बृहत्तर न्यायपीठ के समक्ष निर्देश किया जाए, **मोतीलाल पदमपत शुगर मिल्स** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[11] वाले

---

1 [1975] 2 उम० नि० प० 1026=(1975) 3 एस० सी० आर० 2[illegible]1.
2 [1974] 1 उम० नि० प० 2001=ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 806.
3 [1975] 1 उम० नि० प० 306=(1975) 1 एस० सी० आर० 778.
4 [1976] 1 उम० नि० प० 1=(1976) 2 एस० सी० आर० 347.
5 [1973] 2 उम० नि० प० 159=(1973) सप्ली० एस० सी० आर० .
6 [1981] 4 एस० सी० सी० 143.
7 [1974] 2 उम० नि० प० 1247=(1975) 1 एस. सी. आर. 127.
8 [1975] 1 उम० नि० प० 1071=(1985) 2 एस० सी० आर० 317.
9 [1986] 3 उम० नि० प० 813=(1985) 4 एस० सी० सी० 369.
10 [1981] 2 उम० नि० प० 240=(1980) 3 एस० सी० आर० 689.
11 [1979] 4 उम० नि० प० 1340—(1979) 2 एस० सी० आर० 641.

1989(5) eILR(PAT) SC 23

मामले में दो न्यायाधीशों के पूर्ववर्ती खंड न्यायपीठ द्वारा अपनाए गए मत से भिन्न मत अपनाया था।

28. हमारी यह राय है कि इस न्यायालय के खंड न्यायपीठ द्वारा घोषित विधि उसी खंड न्यायपीठ या कम संख्या वाले न्यायाधीशों के न्यायपीठ पर आबद्धकर है, और इसलिए कि ऐसा विनिश्चय आबद्धकर हो, यह आवश्यक नहीं है कि यह पूर्ण न्यायालय या न्यायालय के संविधान न्यायपीठ द्वारा दिया गया विनिश्चय हो। तथापि, हम यह समझते हैं कि सुनिश्चतता और सम्यक् प्राधिकार प्रदान करने के प्रयोजनार्थ भविष्य में इस न्यायालय के विनिश्चय उस समय तक कम से कम तीन न्यायाधीशों के खंड न्यायापीठों द्वारा किए जाएं जब तक कि, अकाट्य कारणों से, ऐसा करना सुविधाजनक रूप में संभव न हो।

29. पूर्वोक्त विचारणाओं के आधार पर, और इन मामलों में उठाए गए प्रश्नों की प्रकृति और संभावना को देखते हुए हमारा यह मत है कि दो विद्वान् न्यायाधीशों के न्यायपीठ द्वारा उपर्युक्त **के० कमलतम्मन्नि आवरू (मृत) अपने विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत**[1] और **उपर्युक्त भाग सिंह और अन्य**[2] वाले मामलों में विनिश्चित प्रश्न के पुनर्विचार के लिए बृहत्तर न्यायपीठ को इन मामलों को निर्देशित करते हुए किए गए तारीख 23 सितंबर, 1985 के आदेश का पर्याप्त न्यायोचित्य था। प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा निर्देश की विधिमान्यता की बाबत किए गए प्रारंभिक आक्षेप को नामंजूर किया जाता है।

30. अब हम निर्देश के गुणागुण पर विचार करेंगे। यह निर्देश भूमि अर्जन (संशोधन) अधिनियम, 1984 की धारा 30 (2) के निर्वचन तक ही सीमित है। संशोधन अधिनियम की अधिनियमिति से पूर्व भूमि अर्जन अधिनियम (जिसे संक्षेप में 'मूल अधिनियम' कहा गया है) की धारा 23(2) में उपबंधित तोषण अधिनियम की धारा 23(1) के अनुसार संगणित भूमि के बाजार मूल्य का 15% है, और यह तोषण अर्जन की अनिवार्य प्रतिफल के रूप में उपबंधित है। भूमि अर्जन संशोधन विधेयक, 1982 लोक सभा में 30 अप्रैल, 1982 को पेश किया गया था और अधिनियमिति के पश्चात् भूमि अर्जन संशोधन अधिनियम, 1984 तारीख 24 सितंबर, 1984 से प्रवर्तन में आया। संशोधन अधिनियम की धारा 15 ने मूल अधिनियम की धारा 23(2) में संशोधन किया तथा '15 प्रतिशत' शब्दों के स्थान पर '30 प्रतिशत' शब्द प्रतिस्थापित किए। संसद का आशय यह था कि बर्धित तोषण का फायदा उस तारीख से पूर्व की गई अर्जन कार्यवाहियों की बाबत, यद्यपि सीमित मात्रा में प्राप्त होना चाहिए। उसने संशोधन अधिनियम की धारा 30(2) अधिनियमित करके उस आशय को कार्यान्वित करने की ईप्सा की। संशोधन अधिनियम की धारा 30 (2) में यह उपबंधित है कि—

> "(2) प्रधान अधिनियम की········ धारा 23 की उपधारा (2) के उपबंध, इस अधिनियम की········धारा 15 के खंड (ख) द्वारा यथा संशोधित······ ······कलक्टर या न्यायालय द्वारा किए गए किसी अधिनिर्णय या 30 अप्रैल, 1982 [लोक सभा में भूमि अर्जन (संशोधन) विधेयक, 1982 पेश किए जाने की तारीख] के पश्चात् और इस अधिनियम के प्रारंभ से पूर्व प्रधान अधिनियम के उपबंधों के अधीन किए गए ऐसे किसी अधिनिर्णय के विरुद्ध अपील में उच्च न्यायालय या

---

[1] [1985] 2 उम० नि० प० 458=(1985) 1 एस० सी० सी० 582.

[2] [1986] 1 उम० नि० प० 361=(1985) 3 एस० सी० सी० 737.

उच्चतम न्यायालय द्वारा पारित किसी आदेश को भी, और उसके संबंध में, लागू होंगे और लागू किए हुए समझे जाएंगे ।"

"धारा 30 (2) का अर्थान्वयन करने पर, यह न्यायसंगत और स्पष्ट है कि यहां निर्दिष्ट मूल अधिनियम की धारा 11 के अधीन कलक्टर द्वारा किया गया अधिनिर्णय, और न्यायालय द्वारा किया गया अधिनिर्णय मूल अधिनियम की धारा 19 के अधीन न्यायालय के समक्ष कलक्टर द्वारा किए गए निर्देश पर मूल अधिनियम की धारा 23 के अधीन आरंभिक अधिकारिता वाले प्रधान सिविल न्यायालय द्वारा किया गया अधिनिर्णय है। इस बाबत कोई संदेह नहीं हो सकता है कि धारा 30(2) में 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य कलक्टर द्वारा किए गए अधिनिर्णय की बाबत बढ़े हुए तोषण का फायदा आशयित है । इसी प्रकार बर्धित तोषण का फायदा धारा 30(2) द्वारा 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य न्यायालय द्वारा किए गए अधिनिर्णय के मामले में भी विस्तारित की गई है, यद्यपि ऐसा 30 अप्रैल, 1982 से पूर्व किए गए अधिनिर्णय से किए गए निर्देश पर किया जाएगा ।

31. प्रश्न यह है कि "या उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय द्वारा किसी ऐसे अधिनिर्णय के विरुद्ध अपील पर पारित ऐसे किसी आदेश को" शब्दों का अर्थ क्या है ? क्या वे, जैसे कि अपीलार्थियों ने दलील दी, 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य कलक्टर या न्यायालय द्वारा किए गए अधिनिर्णय के विरुद्ध अपीलों तक सीमित हैं, अथवा क्या इनमें, जैसाकि प्रत्यर्थियों द्वारा दलील दी गई, 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य निपटारा की गई वे अपीलें भी सम्मिलित हैं जो यद्यपि कलक्टर या न्यायालय द्वारा 30 अप्रैल, 1982 से पूर्व किए गए अधिनिर्णयों से उद्भूत हैं। हमारी यह राय है कि अपीलार्थियों द्वारा किए गए निर्वचन को प्रत्यर्थियों द्वारा सुझाए गए निर्वचन की अपेक्षा अधिमान दिया जाना चाहिए । संसद ने उच्च न्यायालय के समक्ष अपील और उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील को 'किसी ऐसे अधिनिर्णय' के विरुद्ध अपील के रूप में वर्णित किया है । प्रत्यर्थियों की ओर से दलील यह है कि 'किसी ऐसे अधिनिर्णय' शब्दों से कलक्टर या न्यायालय द्वारा किया गया अधिनिर्णय अभिप्रेत है, और इसमें कोई बड़ा मर्यादित भाव नहीं है, और यह कि इस संदर्भ में धारा 30 (2) की भाषा के आधार पर, अपील में आदेश 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य किया गया अपीली आदेश है और ऐसी स्थिति में कलक्टर या न्यायालय का संबंधित आदेश 30 अप्रैल, 1982 से पूर्व किया जाना चाहिए था । हमारी समझ में, 'कोई ऐसा अधिनिर्णय', शब्दों का प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा सुझाया गया व्यापक अर्थ नहीं हो सकता है। उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के अपीली आदेश के रूप में वर्णन करने वाले ऐसे शब्द आवश्यक नहीं थे। स्पष्टतः मूल अधिनियम में अनुध्यात विद्यमान पदानुक्रम संबंधी संरचना को देखते हुए ये अपीली आदेश कलक्टर या न्यायालय के अधिनिर्णय के विरुद्ध अपील में उद्भूत आदेश ही हो सकते थे । 'कोई ऐसा अधिनिर्णय' शब्दों का आशय काफी महत्वपूर्ण है, और इस संदर्भ में जिसमें ये शब्द धारा 30(2) में आए हैं, यह स्पष्ट है कि उनसे तारीख 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य कलक्टर या न्यायालय द्वारा किए गए अधिनिर्णयों के प्रति निर्देश आशयित है । दूसरे शब्दों में संशोधन अधिनियम की धारा 30(2) वर्धित तोषण के फायदे उन मामलों को भी विस्तारित करती है जहां कलक्टर या न्यायालय द्वारा अधिनिर्णय तारीख 30 अप्रैल, 1982 और

24 सितंबर, 1984 के मध्य किया गया या उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय द्वारा ऐसे अधिनिर्णयों के विरुद्ध विनिश्चित अपीलों को यदि उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय 24 सितंबर, 1984 से पूर्व या इस तारीख के पश्चात् दिए गए। जो बात तात्त्विक है वह यह है कि अधिनिर्णय कलक्टर या न्यायालय द्वारा 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य किया जाना चाहिए। हम इस न्यायालय द्वारा उपर्युक्त **के० कमलतम्मन्निआवरू (मृत) अपने विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत** बनाम **विशेष भूमि अर्जन अधिकारी**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष से सहमत हैं और उपर्युक्त **भाग सिंह और अन्य** बनाम **संघ राज्य क्षेत्र चंडीगढ़**[2] वाले मामले में अपनाए गए मत से सहमत नहीं हैं। हमारी राय में पश्चात्वर्ती मामले में धारा 30(2) को दिया गया अर्थ इस उपधारा की भाषा से युक्तियुक्त रूप में निकालने वाला अर्थ नहीं है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि उस मामले में विद्वान् न्यायाधीशों ने धारा 30(2) में 'कोई ऐसा अधिनिर्णय' विन्यास में 'ऐसा' शब्द के महत्त्व को छोड़ दिया। इस शब्द को सम्यक् महत्त्व दिया जाना चाहिए और हमारी समझ में, इससे अवश्यमेव ही यह आशयित है कि उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील, जिसमें वर्धित तोषण का फायदा दिया गया, 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य कलक्टर या न्यायालय द्वारा दिए गए अधिनिर्णय तक ही सीमित रहनी चाहिए।

32. हमें महान्यायवादी की इस दलील में सार दिखाई देता है कि यदि संसद का यह आशय था कि वर्धित तोषण का फायदा समस्त लंबित कार्यवाहियों को भी पहुंचे तो उसने ऐसा स्पष्ट भाषा में कहा होता। इसके विपरीत उसका यह कहना है कि उन शब्दों से जिनमें धारा 30 (2) दी गई है, फायदा सीमित रूप में उपलब्ध होना उपदर्शित होता है। संशोधन अधिनियम को किसी विशिष्ट तारीख से सामान्यतः भूतलक्षी नहीं बनाया गया है, और यह भूतलक्षिता जो प्रकट है मूल अधिनियम के अंतर्गत कतिपय क्षेत्रों तक ही निर्बंधित है और इसे संबंधित उपबंध के विनिर्दिष्ट निबंधनों से निकाला जा सकता है। चूंकि स्वयं सुसंगत उपबंध की भाषा से भूतलक्षिता की व्यापकता मालूम करने के लिए यह आवश्यक है कि वर्धित तोषण के मामले में संसद् द्वारा आशयित भूतलक्षी अनुतोष की व्याप्ति अवधारित करने के लिए धारा 30(2) के अपबंधों का सूक्ष्मता से अध्ययन करना चाहिए। विद्वान् महान्यायवादी यह बात कहने में सही है कि संसद् का आशय कतिपय तारीख को अपील में किसी मामले के निपटारे के मात्र संयोग पर वर्धित तोषण की व्याप्ति परिभाषित करना कभी नहीं था। अब वरिष्ठ न्यायालयों में विलंब उन सीमाओं तक हो गया है जिनका पूर्वानुमान उस समय नहीं किया गया था जब अनुतोष के लिए उनके समक्ष पहुंच करने का अधिकार कानून द्वारा मंजूर किया गया था। यदि उसका यह आशय था कि धारा 30(2) में 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के समक्ष लंबित अपीलों के प्रति निर्देश होना चाहिए, तो वे उन कार्यवाहियों के प्रति निर्देश कर सकते थे जिनमें अधिनिर्णय कलक्टर द्वारा 10 से 20 वर्ष पहले किसी समय किया गया था। उसका आशय यह कभी नहीं हो सकता था कि बहुत पहले प्रारंभ की गई अर्जन कार्यवाहियों को लागू होने

---

[1] [1985] 2 उम० नि० प० 458=[1985] 1 एस० सी० सी० 582.

[2] [1986] 1 उम० नि० प० 361=[1985] 3 एस० सी० सी० 737.

वाले प्रतिकर और तोषण की दरों को अब कानूनी वर्धन की प्रसुविधा प्राप्त हो। यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि भूमि का मूल्य धारा 11(1) और धारा 23(1) के अधीन धारा 4(1) के अधीन अधिसूचना के प्रकाशन की तारीख के संदर्भ में लिया गया है, और यही तारीख प्रतिकर और तोषण की मात्रा का अवधारण करने के प्रयोजनार्थ प्रायः तात्त्विक है। धारा 11(1) और 23(1) दोनों में ही, अन्य बातों के साथ साथ, उस तारीख को भूमि के बाजार मूल्य के आधार पर प्रतिकर अवधारित किए जाने तथा धारा 23 (2) द्वारा तोषण ऐसे बाजार मूल्य के प्रतिशत पर गणना किए जाने के बारे में कहा गया है।

33. हमारा ध्यान उपर्युक्त **पंजाब राज्य बनाम मोहिन्दर सिंह**[1] वाले मामले में किए गए आदेश की ओर आकृष्ट किया गया, किंतु उन कारणों के कथन के अभाव में जिनसे विद्वान् न्यायाधीश उस मत से भिन्न मत अपनाने को प्रेरित हुए हमारे लिए इस विनिश्चय का पृष्ठांकन करना कठिन है। इसका उपर्युक्त **भाग सिंह**[2] वाले मामले का विनिश्चय करने वाले विद्वान् न्यायाधीशों ने अनुमोदन किया, तथापि उपर्युक्त **भाग सिंह**[2] वाले मामले के निर्णय में जैसा कि हमने पहले कहा, धारा 30(2) के समस्त तात्त्विक उपबंधों को सम्यक् महत्व नहीं दिया गया है और परिणामस्वरूप हम इससे सहमत नहीं हैं। विद्वान् न्यायाधीशों ने इस सिद्धांत को लागू किया कि अपील धारा 18 के अधीन निर्देश द्वारा न्यायालय के समक्ष प्रारम्भ की गई कार्यवाही का चालू रहना होता है किंतु, हमारी राय में, साधारण सिद्धांत का प्रवर्तन की अपेक्षा स्वयं कानूनी उपबंध के परिसीमित निबंधनों को अधिमान दिया जाना चाहिए। प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल ने इस साधारण सिद्धांत का पुरजोर अवलंब लिया है कि अपील मूल मामले की पुनर्सुनवाई होती है, किंतु हमारा इस बाबत समाधान नहीं हुआ है कि वह इस सिद्धांत का आश्रय लेने में सही है। प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल ने यह बताया कि 'या' शब्द धारा 30(2) में कलक्टर या न्यायालय द्वारा किए गए अधिनिर्णय और अपील में उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय द्वारा पारित आदेश के प्रति निर्देश के मध्य वियोजक के रूप में प्रयुक्त किया गया है और उसके अनुसार उचित रूप में इसे समझने पर इससे यह अभिप्रेत है कि 30 अप्रैल, 1982 से 24 सितंबर, 1984 के मध्य की कालावधि उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के अपीली आदेश को उसी प्रकार लागू होती है जिस प्रकार यह कलक्टर या न्यायालय द्वारा किए गए अधिनिर्णय को लागू होती है। हम यह समझते हैं कि संसद् का आशय यह कहना है कि धारा 30(2) का फायदा पूर्वोक्त दो तारीखों के मध्य किए गए कलक्टर या न्यायालय के अधिनिर्णय अथवा उच्च न्यायालय अथवा उच्चतम न्यायालय के उस अपीली आदेश को भी उपलब्ध होगा जो उक्त दो तारीखों के मध्य कलक्टर या न्यायालय के अधिनिर्णय से उद्भूत होगा। 'या' शब्द उस प्रक्रम के प्रति निर्देश में प्रयुक्त हुआ है जब कार्यवाही उस समय की गई जब धारा 30(2) के फायदा को विस्तारित करने की ईप्सा की गई। यदि कार्यवाही का पूर्वोक्त दो तारीखों के मध्य कलक्टर या न्यायालय द्वारा किए गए अधिनिर्णय के साथ ही पर्यवसान हो गया है, तो धारा 30(2) की प्रसुविधा पूर्वोक्त दो तारीखों के मध्य किए गए ऐसे अधिनिर्णय को भी प्राप्त होगी। यदि कार्यवाही उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील के प्रक्रम तक पहुंच गई है, तो उस प्रक्रम पर भी धारा 30(2) की प्रसुविधा प्राप्त होगी। तथापि, प्रत्येक स्थिति में, कलक्टर या

1 [1986] 1 एस० सी० सी० 365.

2 [1986] 1 उम० नि० प० 361=[1985] 3 एम० सी० सी० 737.

1989(5) eILR(PAT) SC 23

न्यायालय का अधिनिर्णय 30 अप्रैल, 1982 और 24 सितंबर, 1984 के मध्य किया जाना चाहिए।

34. परिणामतः हम उपर्युक्त **मोहिन्दर सिंह**[1] और **भाग सिंह और एक अन्य**[2] वाले मामलों में अधिकथित विधि के कथन को उलटते हैं और इसकी अपेक्षा उपर्युक्त **कमलतम्मन्नि आवरू (मृत) अपने विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत**[3] वाले मामले में संशोधन अधिनियम की धारा 30(2) के किए गए निर्वचन को अधिमान देते हैं।

35. अब ये मामले तीन विद्वान् न्यायाधीशों के खंड न्यायपीठ के समक्ष सूचीबद्ध किये जाएंगे जो इन मामलों में उठाये गये अन्य मुद्दों की गुणागुण के आधार पर सुनवाई करेगा।

मामलों का तदनुसार निपटारा किया गया।

म०/च०